अनीति की राह पर

[संयम बनाम भोग पर लिखे लेखों का संग्रह]

लेखक
मोहनदास करमचंद गांधी
अनुवादक
कालिकाप्रसाद, काशी

१९४७
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

मिश्रित

विषय-सूची

१. नीतिनाश की ओर — ३
२. एकान्त की बात — ५०
३. ब्रह्मचर्य — ५६
४. नैष्ठिक ब्रह्मचर्य — ६१
५. सत्य बनाम ब्रह्मचर्य — ६६
६. ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय — ७०
७. जनन-नियमन — ७३
८. कुछ दलीलों पर विचार — ७६
९. गुह्य प्रकरण — ९०
१०. सुधार या बिगाड़? — १००
११. वीर्य-रक्षा — १०७
१२. मनोवृत्तियों का प्रभाव — ११२
१३. धर्म-संकट — ११९
१४. मेरा व्रत — १२४
१५. विकार का बिच्छू — १२९
१६. संयम को किसकी आवश्यकता है? — १३१
१७. मां-बाप की जिम्मेवारी — १३३
१८. काम को कैसे जीतें? — १३६
१९. काम-रोग का निवारण — १४०
२०. परिशिष्ट
    १. सब रोगों का मूल — १४४
    २. जनन और पुनर्जनन — १५९

अनीति की राह पर

: १ :

नीतिनाश की ओर

कृपालु मित्र मुझे भारतीय पत्रों के ऐसे लेखों की कतरनें भेजा करते हैं जिनमें गर्भ-निरोध के कृत्रिम साधनों से काम लेकर सन्तति-नियमन के विचार का समर्थन होता है। युवकों के साथ उनके वैयक्तिक जीवन के विषय में मेरा पत्र-व्यवहार दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। मुझे पत्र लिखनेवाले भाई जो सवाल उठाते हैं उनके बहुत ही छोटे भाग की चर्चा मैं इन पृष्ठों में कर सकता हूं । अमरीकावासी मित्र भी इस विषय के लेख, पुस्तकें मेरे पास भेजते हैं। और कुछ तो गर्भ-निरोध के कृत्रिम साधनों के उपयोग का विरोध करने के कारण मुझ पर खफा भी हैं। उन्हें यह देखकर दुःख होता है कि अन्य अनेक विषयों में तो मैं बहुत आगे बढ़ा हुआ सुधारक हूं, पर संतति-नियमन के विषय में मेरे विचार मध्य युग के हैं। मैं यह भी देखता हूं कि गर्भ-निरोध के कृत्रिम साधनों से काम लेने के हिमायतियों में कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी हैं जिनकी गणना दुनिया के बड़े-से-बड़े विचारशील जनों में है।

अतः मैंने सोचा कि कृत्रिम साधनों से काम लेने के पक्ष में कोई बहुत ही पक्की दलील होनी चाहिए, और यह भी सोचा कि अब तक इस विषय पर जो कुछ मैंने कहा है उससे मुझे कुछ अधिक कहना चाहिए। मैं इस प्रश्न पर और इस विषय का साहित्य पढ़ने के बारे में विचार कर ही रहा था कि 'नीतिनाश की ओर' ('टु वर्ड्स मॉरल बैंक्रप्सी') नाम की पुस्तक मुझे पढ़ने को दी गई। इस पुस्तक में इसी विषय का विवेचन है और मेरी समझ से वह शुद्ध शास्त्रीय रीति से किया गया है। मूल पुस्तक फरांसीसी भाषा में श्री पाल ब्यूरो ने लिखी है, जिसके नाम का शाब्दिक अर्थ 'नैतिक अराजकता' होता है। अंग्रेजी

उलथा कान्स्टेबल एंड कंपनी ने प्रकाशित किया है और उसकी प्रस्तावना डाक्टर मेरी स्कारली सी० बी० ई०, एम० डी० ने लिखी है। उसमें ५३८ पृष्ठ और १५ अध्याय हैं।

पुस्तक पढ़ जाने के बाद मैंने सोचा कि लेखक के विचारों का सारांश करने से पहले विषय के प्रति न्याय करने की खातिर कृत्रिम साधनों से काम लेने के पक्ष का पोषण करनेवाली प्रमाणभूत पुस्तकें मुझे अवश्य पढ़ लेनी चाहिए। अतः मैंने भारतसेवक-समिति से अनु-रोध किया कि इस विषय का जो साहित्य उसके पास हो वह मुझे थोड़े दिनों के लिए मँगनी देने की कृपा करें। समिति ने कृपा कर अपने संग्रह की कुछ पुस्तकें भेज दीं। काका कालेलकर ने, जो इस विषय का अध्ययन कर रहे हैं, हैवलॉक एलिस के ग्रंथ के इस विषय का विवेचन करनेवाले खंड दिये, और एक मित्र ने 'प्रैक्टिशनर' पत्र का विशेषांक भेजा जिसमें कुछ सुप्रसिद्ध चिकित्सकों की बहुमूल्य सम्मतियां संगृहीत हैं।

इस साहित्य-संग्रह का उद्देश्य यह था कि श्री ब्यूरो के निष्कर्षों की परख, जहां तक एक चिकित्साशास्त्र का ज्ञान न रखनेवाला साधारण मनुष्य कर सकता है, कर लें। यह बात अकसर देखने में आती है कि जब शास्त्र-विशेष के पंडित किसी प्रश्न पर बहस करते हैं तब भी उसके दो पक्ष होते हैं और दोनों के पोषण में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। अतः मैं चाहता था कि श्री ब्यूरो की पुस्तक पाठकों के सामने रखने के पहले गर्भ-निरोध के कृत्रिम साधनों के समर्थकों का दृष्टिकोण समझ लूं। अब मेरी पक्की राय है कि कम-से-कम हिन्दुस्तान में तो कृत्रिम साधनों के उपयोग की आवश्यकता सिद्ध नहीं की जा सकती। जो लोग भारत में उनके उपयोग का समर्थन करते हैं वे या तो यहां की हालत नहीं जानते या जान-बूझ कर उसकी ओर से आंखें मूंद लेते हैं। पर अगर यह बात साबित कर दी जाय कि उपदिष्ट उपाय पच्छिम में भी हानिकर सिद्ध हो रहे हैं तो भारत की विशेष परिस्थिति

की छान-बीन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

अतः अब हम यह देखें कि श्री ब्यूरो कहते क्या है। उन्होंने केवल फ्रांस की स्थिति पर विचार किया है। पर फ्रांस कोई छोटी चीज नहीं। दुनिया के जो देश सबसे आगे बढ़े हुए हैं उनमें उसकी गणना है। ऊपर बताए हुए साधन जब वहां विफल हो गये तब अन्यत्र उनके सफल होने की आशा नहीं रखी जा सकती।

विफलता के अर्थ के विषय में मतभेद हो सकता है। अतः यहां मैं किस अर्थ में उसका व्यवहार कर रहा हूं यह मुझे बता देना चाहिए। अगर हम यह दिखा सकें कि इन साधनों के व्यवहार से नीति के बंधन ढीले हुए हैं, व्यभिचार बढ़ा है और जहां केवल स्वास्थ्य-रक्षा तथा आर्थिक दृष्टि से कुटुम्ब का अति विस्तार न होने देने के उद्देश्य से स्त्री-पुरुषों को उनसे काम लेना चाहिए था वहां मुख्यतः भोग-वासना की तृप्ति के लिए उनका व्यवहार हो रहा है, तो मानना होगा कि उनका विफल होना साबित कर दिया गया। यही मध्यमा वृत्ति है। चरम नैतिक दृष्टि तो प्रत्येक परिस्थिति में गर्भ-निरोध के साधनों के उपयोग का निषेध करती है। उस पक्ष की दलील तो यह है कि स्त्री-पुरुष का संयोग तभी जायज है जब उसका प्रयोजन सन्तानोत्पादन हो, उस हेतु के बिना उनका काम-वासना की तृप्ति करना सर्वथा अनावश्यक है; वैसे ही जैसे शरीर-रक्षा को छोड़कर और किसी उद्देश्य से उनका भोजन करना आवश्यक नहीं होता। एक तीसरा पक्ष भी है। यह ऐसे लोगों का वर्ग है जिनका कहना है कि दुनिया में नीति नाम की कोई चीज है ही नहीं, और है तो उसका अर्थ विषय-वासना का सयम नहीं बल्कि हर तरह की भोग-वासना की पूर्ण तृप्ति है; हां इतना ध्यान रहे कि उससे हमारा स्वास्थ्य इतना न बिगड़ जाय कि हम वासनाओं की तृप्ति के, जो हमारे जीवन का उद्देश्य है, काबिल ही न रह जायं। मैं समझता हूं कि श्री ब्यूरो ने ऐसे अतिवादियों के लिए अपनी पुस्तक नहीं लिखी है। कारण यह कि उन्होंने उसकी समाप्ति टाममान के इस

वचन से की है—

"भविष्य का मैदान उन्हीं जातियों के हाथ है जो सदाचारिणी है।"

२ : अविवाहितों में नीतिभ्रष्टता

अपनी पुस्तक के पहले भाग में श्री ब्यूरो ने ऐसे तथ्य इकट्ठे किये हैं जिन्हें पढ़कर चित्त को अतिशय खेद होता है। उनसे प्रकट होता है कि फ्रांस में कैसे विशाल संघटन खड़े हो गये हैं जिनका काम केवल मनुष्य की अधम वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटा देना है। गर्भ-निरोध के कृत्रिम उपायों के समर्थकों का सबसे बड़ा दावा यह है कि उनके इस्तेमाल से गर्भपात का पाप बंद हो जायगा। पर यह भी टिक नहीं सकता। श्री ब्यूरो कहते हैं—"फ्रांस में इधर २५ बरस से गर्भ-निरोध के उपायों का विशेष रूप से प्रचार रहा है। पर अपराधरूप गर्भपातों की संख्या कम न हुई।" श्री ब्यूरो की राय में उनकी तादाद उलटे और बढ़ी है। उनका अंदाजा है कि वहाँ हर साल २॥ से ३। लाख तक गर्भपात होते हैं। कुछ बरस पहले लोकमत उनके समाचार सुनकर कांप उठता था, अब यह बात भी नहीं रही।

श्री ब्यूरो लिखते हैं—"गर्भपात के पीछे-पीछे बाल-हत्या, कुल-कुटुम्ब के भीतर व्यभिचार और प्रकृति-विरुद्ध पापों की पांत पहुंचती है। बाल-हत्या के बारे में तो इतना ही कहना है कि अविवाहिता माताओं के लिए सब तरह के सुभीते कर दिये गए हैं, और गर्भ-निरोध के साधनों का उपयोग और गर्भपात बढ़ गया है, फिर भी यह पाप घटने के बदले और बढ़ा ही है। सभ्य प्रतिष्ठित कहलाने वाले लोग अब उसे वैसी नफरत की निगाह से भी नहीं देखते, और मुकदमों में जूरी आम तौर से अभियुक्त को 'निरपराध' ही ठहराया करते हैं।"

गंदे, अश्लील साहित्य की वृद्धि पर श्री ब्यूरो ने एक पूरा अध्याय लिख डाला है। उसकी व्याख्या वह इस प्रकार करते हैं—"साहित्य, नाटक और चलचित्र मनुष्य के थके मन को विश्रांति देने और फिर

तरो-ताजा कर देने के जो साधन उसे दे रहे हैं उनका काम-वासना को जगाने, भड़काने या दूसरे गन्दे उद्देश्य की पूर्ति के लिए दुरुपयोग करना।" वह कहते हैं—"इस साहित्य की हर एक शाखा की जितनी खपत हो रही है उसका कुछ अंदाजा इस बात से किया जा सकता है कि इस धंधे को चलानेवाले कैसे चतुर-चूड़ामणि हैं, उनका संघटन कितना बढ़िया है, कितनी विशाल पूंजी इस कारबार में लगा दी गई है और उसे चलाने के तरीके सर्वांगपूर्णता में कैसे बेजोड़ हैं।" "इस साहित्य का मनुष्यों के मन पर इतना जबर्दस्त और ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा है कि व्यक्ति का सारा मानस जीवन उसके रंग से रंग गया है, और एक प्रकार के गौण काम जीवन का निर्माण हो गया है जिस का अस्तित्व सर्वांश में उसकी कल्पना में ही होता है।"

अनन्तर श्री ब्यूरो श्री रूइसां का यह करुणा-जनक पैराग्राफ उद्धृत करते हैं—

"यह सारा अश्लील और कामज क्रूरता से भरा साहित्य अगणित मनुष्यों के लिए अति प्रबल प्रलोभन की वस्तु बन रहा है,और इस साहित्य की जबर्दस्त खपत असंदिग्ध रूप में बताती है कि कल्पना में दूसरे काम-जीवन का निर्माण कर लेने वालों की संख्या लाखों तक पहुंचती है। जो लोग इसकी बदौलत पागलखानों में पहुँच गये हैं उनका तो जिक्र ही क्या; खासकर आज के-से समय में जब अखबारों और पुस्तकों का दुरुप-योग सब ओर उन्न अन्तःकरणों की सृष्टि कर रहे हैं। जिन्हें डब्लू. जेम्स 'अन्तर्जगत् की अनेकता' कहते हैं, और जिसमें विचरण कर हुए आदमी वर्तमान जीवन के कर्त्तव्यों को भूल सकता है।"

याद रहे, ये सारे घातक परिणाम एक ही मूलगत भ्रम के कुफल हैं। वह यह है कि विषय-भोग, सन्तान की इच्छा के बिना भी मानव-प्रकृति के लिए आवश्यक है और उसके बिना पुरुष हो या स्त्री किसी का भी पूर्ण विकास नहीं हो सकता। ज्यों ही यह भ्रम दिमाग में घुसा और मनुष्य जिसे बुराई समझता था उसे भलाई के रूप में देखने लगा

कि फिर वह विषय-वासना को जगाने और उसकी तृप्ति में सहायक होने के नित नये उपाय ढूंढ़ने लगता है।

इसके बाद श्री ब्यूरो ने प्रमाण देकर दिखाया है कि आज के दैनिक पत्र, मासिक, परचे, उपन्यास, चित्र और नाटक-सिनेमा किस तरह इस हीन रुचि को दिन-दिन अधिकाधिक भड़का और उसकी तृप्ति की सामग्री जुटा रहे हैं।

३ : विवाहितों में नीतिभ्रष्टता

अब तक तो अविवाहित जनों के नीति-नाश की कथा कही गई है। इसके बाद श्री ब्यूरो यह दिखाते हैं कि विवाहित जनों की नीति-भ्रष्टता किस हद तक पहुंच रही है। वह कहते हैं—"अमीर, मध्यवित्त और कृषक वर्गों में बहुसंख्यक विवाह बड़प्पन दिखाने या धन-संपति पाने के लिए किये जाते हैं।" बहुत से ब्याह अच्छा ओहदा पाने, दो जायदादों, खासकर जमींदारियों के मालिक बनने, नाजायज सम्बन्ध को जायज बनाने, अवैध सन्तान को वैध बनवाने, बुढ़ापे और गठिये की बीमारी के समय कोई मन से सेवा-टहल करनेवाला हो इसका उपाय करने और सेना में अनिवार्य भरती के समय कौन-सी छावनी पसन्द करें यह तै कर सकने के लिए भी किये जाते हैं। कुछ ब्याह व्यभिचार के जीवन से ऊबकर दूसरे प्रकार का थोड़ा संयमवाला भोग जीवन प्राप्त करने के उद्देश्य से भी किये जाते हैं।

इसके बाद श्री ब्यूरो ने उदाहरण और आंकड़े देकर सिद्ध किया है इन ब्याहों से व्यभिचार घटने के बदले वस्तुतः और बढ़ता है। पत्नी के उन तथोक्त वैज्ञानिक साधनों ने, जो संयोग में बाधक न होते हुए उसके फल से बचने के लिए बनाये गये हैं, इस पतन को जबर्दस्त मदद पहुंचाई है। पुस्तक के उस दुःखद भाग को तो मैं छोड़ देता हूं जिसमें व्यभिचार-वृद्धि का विवरण और अदालत की डिगरी से होनेवाले पतिपत्नि बिलगाव और तलाकों के चौंकानेवाले आंकड़े दिए गये हैं। इन बिलगावों

और तलाकों की संख्या पिछले बीस बरस के अंदर दूनी से अधिक हो गई है। "स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान नैतिक मानदंड होना चाहिए" इस सिद्धांत के नाम पर स्त्री को जो भोग-वासना की मनमानी तृप्ति की स्वतंत्रता दे दी गई है उसकी भी मैं चलती चर्चा भर कर सकता हूं। गर्भाधान न होने देने की क्रियाओं और गर्भपात कराने के उपायों के पूर्णता प्राप्त कर लेने से स्त्री-पुरुष दोनों को नैतिक बंधनों से पूर्ण मुक्ति मिल गई है। ऐसी दशा में अगर खुद ब्याह का ही मजाक उड़ाया जा रहा है तो इससे किसी को अचरज-अचंभा न होना चाहिए। ब्यूरो ने एक लोकप्रिय लेखक के कुछ वाक्य उद्धृत किये है! उनका आशय यह है– "मेरे विचार से ब्याह उन बड़े-से-बड़े जंगली रिवाजों में से एक है जिन्हें आदमी का दिमाग अब तक सोच सका है। मुझे इस बात में तनिक शक-शुबहा नहीं कि मानव-समाज अगर न्याय और विवेक की ओर कुछ भी बढ़ा तो यह प्रथा दफना दी जायगी।...पर पुरुष इतना मट्ठर और स्त्री इतनी कायर है कि जो कानून उनका शासन कर रहा है उससे अच्छे ऊंचे कानून की माँग करने की हिम्मत वे नहीं कर सकते।"

श्री ब्यूरो ने जिन क्रियाओं की चर्चा की है उनके नतीजों और जिन सिद्धांतों से उन क्रियाओं का समर्थन किया जाता है उनकी उन्होंने बड़ी बारीकी से समीक्षा की है। वह कहते हैं—"यह नीति-बंधन तोड़ फेंकने का आंदोलन हमें नई भवितव्यताओं की ओर खींचे लिये जा रहा है। पर वे हैं क्या? जो भविष्य हमारे आगे आ रहा है वह क्या प्रगति, प्रकाशन सौन्दर्य और उत्तरोत्तर बढ़नेवाले अध्यात्म भाव का होगा? या पीछे लौटने, अंधकार, कुरूपता और पशुभाव का होगा जिसकी भूख दिन-दिन बढ़ती जा रही है? यह नैतिक स्वच्छंदता जिसकी स्थापना की गई है क्या दकियानूसी नियमों के विरुद्ध किये जानेवाले उन फलजनक विद्रोहों, हितकर विप्लवों में से हैं जिन्हें आनेवाली पीढ़ियां कृतज्ञता के साथ याद किया करती हैं, इसलिए, कि उनकी प्रगति उनके उत्थान के लिए विशेष कालों में अनिवार्य हो जाती हैं? अथवा वह मानव-मन

की वही आदिम वृत्ति है जिसकी विरासत उसे अपने आदि पुरुष बाबा आदम[1] से मिली है—जो उन नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया करती है जिनकी कठोरता ही उसे इस योग्य बनाती है कि वह अपनी पाशव प्रेरणाओं के हमलों के सामने टिक सके ? समाज की रक्षा और जीवन के लिए आवश्यक नियम-बंधन के विरुद्ध यह विनाशकारी विद्रोह तो नहीं है ?" इसके बाद वह यह साबित करने के लिए जबर्दस्त सबूत पेश करते हैं कि इस विद्रोह का फल हर लिहाज से सत्यानासी हुआ है। वह खुद जीवन की ही जड़ काट रहा है।

विवाहित स्त्री-पुरुषों का अपनी वासनाओं को अंकुश में रखकर जरूरत से ज्यादा बच्चे न पैदा करने का यथासंभव यत्न करना एक बात है और मनमाना भोग करते हुए उसके फल से बचने के उपायों की मदद लेकर सन्तति-नियमन करना बिलकुल दूसरी बात है। पहली सूरत में मनुष्य को सभी प्रकार से लाभ है और दूसरी में हानि के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगेगा। श्री ब्यूरो ने आंकड़े और नक्शे देकर दिखाया है कि काम-वासना की मनमानी तृप्ति करते हुए भी उसके स्वाभाविक फलों से बचने की गरज से गर्भ-निरोधक साधनों का उपयोग दिन-दिन बढ़ रहा है उसका फल यह हुआ है कि अकेले पेरिस में ही नहीं समूचे फ्रांस में जन्म-संख्या मृत्यु-संख्या की तुलना में बहुत घट गई है। फ्रांस जिन ८७ प्रदेशों में बंटा हुआ है उनमें से ६८ में जन्म की संख्या मृत्यु की संख्या से नीची है। लोते-गारों में १६२ मौतों के मुकाबले में १०० जन्म होते हैं। इसके बाद ताने-गारों का नंबर है। वहां १५६ मौतों पर १००

---

१ आदम और हौवा को ईश्वर ने अदन के बाग में रखा और माली का काम सौंपा था। उन्हें बगीचे के सब पेड़ों के फल खाने की इजाजत थी, पर एक ज्ञान-वृक्ष का फल खाने की मनाही थी। आदम ने इस निषेध का उल्लंघन कर ज्ञान-वृक्ष का फल चख लिया और इस पाप के दंड-स्वरूप अदन के उद्यान से निकाल दिये गए और देवत्व तथा अमरत्व से वंचित होकर मृत्युधर्मा हुए। अनु०

जन्मों का औसत रहता है। जिन १९ प्रदेशों में जन्म-संख्या मृत्यु-संख्या से ऊंची है उनमें से भी कई में तो यह अन्तर महज नाम का है। केवल दस ही रकबे ऐसे हैं जहां मृत्यु-संख्या से जन्म-संख्या की अधिकता कहने लायक हो। मोरब्यां और पास-दे-कैले में मृत्यु-संख्या सबसे कम है—१०० जन्म पीछे ७२। श्री ब्यूरो हमें बताते हैं कि आबादी घटने का यह क्रम जिसे वह 'मांगी हुई मौत' कहते हैं। अभी तक चल ही रहा है।

अनन्तर श्री ब्यूरो फ्रांस के सूबों की हालत की तफ़सील से जांच-पड़ताल करते हैं और १९१४ में नारमंडी के बारे में लिखी हुई श्री जीद की पुस्तक से नीचे लिखा पैराग्राफ उद्धृत करते हैं—"५० बरस के अंदर नारमंडी की आबादी ३ लाख से अधिक घट चुकी है। यानी उसकी जन-संख्या में उतने की कमी हो चुकी जितनी समूचे ओर्न जिले की आबादी है। हर २० साल में वह एक जिले की जितनी आबादी गंवा देता है और चूंकि उसमें कुल पांच जिले हैं इसलिए सौ साल में ही उसके हरे-भरे मैदान फ्रेंच जनों से बिलकुल खाली हो जायंगे। 'फ्रेंच जन' शब्द का व्यवहार मैं जान-बूझ कर कर रहा हूं, क्योंकि निश्चय ही दूसरे लोग आकर उन पर कब्जा जमा लेंगे। और ऐसा न हुआ तो यह बड़े दुःख की बात होगी। जर्मन आस-पास की खानों को खोद रहे हैं और अभी कल ही पहली बार चीनी मजदूरों का अग्रगामी दस्ता उस जगह उतरा है जहां से विजयी विलियम[1] का जहाज इंग्लैंड-विजय के लिए रवाना हुआ था।" इस पैराग्राफ़ की आलोचना में श्री ब्यूरो कहते हैं—"अन्य अनेक प्रांत हैं जिनका दशा इससे कुछ अच्छी नहीं।"

इसके बाद श्री ब्यूरो यह लिखते हैं कि जनसंख्या के इस ह्रास से राष्ट्र की शक्ति भी घटती जा रही है। उनका विश्वास है कि फ्रांस से जो दूसरे देशों में जाकर लोगों का बसना बंद हो गया है उसका कारण

---

१ नार्मंडी का ड्यूक—१०६६ से १०८७ ई० तक इंग्लैंड पर राज्य किया। (जन्म १०२७, मृत्यु १०८७ ई०)

भी यही है। फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य, व्यापार, फ्रेंच भाषा और संस्कृति इन सबके ह्रास का कारण भी वह इसी को मानते हैं।"

अनन्तर वह पूछते हैं—"क्या संयत सहवास के पुराने रास्ते को छोड़ देने वाले फ्रेंचजन सुख, समृद्धि, स्वास्थ्य और मनःसंस्कार में आज अधिक आगे हैं?" इस प्रश्न का उत्तर वह यों देते हैं—"स्वास्थ्य की उन्नति के विषय में तो दो चार शब्द कह देना ही काफी होगा। हम कितना ही चाहते हों कि सब एतराजों का एक सिरे से जवाब दे दें, इस दलील पर संजीदगी के साथ विचार करना कठिन है कि भोग की घूट से किसी का शरीर अधिक सबल और स्वास्थ्य अधिक अच्छा हो सकता है। हर तरफ से यही रोना सुनाई दे रहा है कि नौजवान और प्रौढ़ सभी पहले से निर्बल हो रहे हैं। (प्रथम) महायुद्ध से पहले सैनिक अधिकारियों को रंगरूटों की शारीरिक योग्यता का मानदंड बार बार नीचा करना पड़ता था, और सारे देश में लोगों की कष्ट-सहन की शक्ति काफी घट गई है। अवश्य यह कहना अन्याय होगा कि केवल संयम का अभाव ही इस सारी गिरावट का कारण है। पर वह और उसके साथ-साथ शराबखोरी, और घर-द्वार की गंदगी आदि मिलकर इसका बहुत बड़ा कारण बन रहे हैं। और हम जरा बारीक निगाह से काम लें तो सहज ही देख सकते हैं कि असंयम और उसके पोषक मनोभाव इन दूसरी बुराइयों के सबसे बड़े सहायक हैं।···जननेन्द्रिय के रोगों—गरमी, सूजाक आदि की भयानक बाढ़ ने जन-स्वास्थ्य की जो हानि की है उसका तो अंदाजा ही नहीं लगाया जा सकता।"

श्री ब्यूरो नव्य मालथ्यूसियन सिद्धांत—कृत्रिम साधनों से गर्भ-निरोध—के समर्थकों की इस दलील को भी अस्वीकार करते हैं कि जन्म-संख्या अथवा सन्तानोत्पादन का नियमन करनेवाले समाज में व्यक्तियों का धन उसके नियमन की मात्रा के हिसाब से बढ़ता जाता है। अपने उत्तर की पुष्टि वह फ्रांस की स्थिति की जर्मनी के साथ तुलना करके देते हैं। जर्मनी में बच्चों की पैदाइश बढ़ रही है, और साथ-साथ राष्ट्र की समृद्धि

भी दिन-दिन बढ़ती जा रही है। पर फ्रांस में जन्म-संख्या के साथ-साथ देश की धन-सम्पत्ति भी बराबर घटती जा रही है। उनका कहना है कि जर्मनी के व्यापार का आश्चर्यजनक वृद्धि-विस्तार भी इसलिए नहीं हो रहा है कि वहां श्रमिक वर्ग का और देशों की अपेक्षा अधिक शोषण हो रहा है। वह ऐसिग्नोल का यह कथन प्रमाण में पेश करते हैं--"जर्मनी में जब केवल ४ करोड़ १० लाख आदमी बसते थे तब सैकड़ों आदमी भूखों मर गए, पर जब से उसकी आबादी बढ़कर ६ करोड़ ८० लाख हो गई है तब से वह दिन-दिन अधिक धनवान होता जा रहा है।" इसके बाद वह कहते हैं कि "ये लोग (जर्मन) जो कोई योगी वैरागी नहीं हैं, साल-ब-साल सेविंग बैंक में इतनी रकमें जमा करने में समर्थ हुए हैं कि १९११ ई० में उनका जोड़ २२ अरब फ्रांक (फ्रांस का सिक्का) हो गया था। १८९५ में उनके कुल ८ अरब ही उक्त खाते में जमा थे। इसके मानी यह हुए कि उन्होंने हर साल ८५ करोड़ अधिक बचाए।"

जर्मनी की कला-शिल्प-संबंधिनी उन्नति का विवरण देने के बाद श्री ब्यूरो ने उसकी सामान्य संस्कृति के विषय में जो पैराग्राफ लिखा है वह बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा जायगा। उसका आशय यह है--

"समाजशास्त्र की गहराई में उतरे बिना यह बात निश्शंक होकर कही जा सकती है--इसलिए कि वह बिलकुल स्पष्ट है--कि जर्मन मजदूर अगर अधिक संस्कृत न होते, फोरमैन अधिक पढ़े-लिखे न होते, वहां पूर्ण शिक्षाप्राप्त इंजीनियर उपलब्ध न होते, तो शिल्प-कला की इतनी उन्नति वहां कदापि न हुई होती।......जर्मनी के उद्योग-धंधे सिखानेवाले विद्यालय तीन तरह के हैं--१. पेशे (डाक्टरी आदि) सिखानेवाले, जिनकी संख्या ५०० से ऊपर और जिनमें शिक्षा प्राप्त करनेवालों की संख्या ७० हजार है; २. शिल्प-कला की शिक्षा देनेवाले, जिनकी संख्या और बड़ी है और जिनमें से कुछ में १ हजार से अधिक विद्यार्थी हैं; ३. कालिज, जिनमें ऊंचे दर्जे की शिक्षा दी जाती है और जिनकी शिष्य-संख्या १५ हजार है। ये कालिज विद्यार्थियों की

तरह डाक्टर (आचार्य) की स्पृहणीय उपाधि प्रदान करते हैं।······३६५ विद्यालय वाणिज्य-व्यवसाय की शिक्षा देते हैं जिनमें कुल ११ हजार विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। खेती-बारी की शिक्षा का प्रबंध तो अनगिनत विद्यालयों में है और यह विद्या सीखनेवालों की संख्या ६० हजार से ऊपर है। विविध धनोत्पादक धंधों की शिक्षा पानेवाले इन ४ लाख विद्यार्थियों के सामने हमारे व्यावसायिक विद्यालयों के कुल ३५ हजार विद्यार्थियों की क्या बिसात है। और जब हमारे १७ लाख ७० हजार जन, जिनमें से ७,७६, ७६८ अठारह साल से कम के हैं, खेती से ही जीविका चला रहे हैं तब हमारे कृषि-विद्यालयों में कुल जमा ३२५५ ही विद्यार्थी क्यों दिखाई देते हैं ?"

श्री ब्यूरो यह स्वीकार करते हैं कि जर्मनी की यह सारी आश्चर्य-जनक उन्नति अकेले मृत्यु-संख्या से जन्म-संख्या के अधिक होने का ही फल नहीं है। पर कहते हैं, और ठीक कहते हैं, कि और अनुकूलताओं के साथ-साथ मरनेवालों से जन्म लेने वालों की तादाद अधिक होना भी राष्ट्र के बढ़ने-पनपने के लिए लाजिमी होता है। वस्तुतः वह जिस बात को साबित करना चाहते हैं वह यह है कि आबादी का बढ़ना देश के समृद्धिलाभ और नैतिक प्रगति का विरोधी नहीं है। जहां तक जन्म-संख्या का सवाल है, हिन्दुस्तान में हमारी स्थिति फ्रांस की जैसी नहीं है। पर यह कह सकते हैं कि यह जन्म की अधिकता हमारे यहां राष्ट्र की बाढ़ में सहायक नहीं है, जैसा कि जर्मनी में है। पर श्री ब्यूरो के तथ्यों, अंकों और निष्कर्षों की दृष्टि से भारत की परिस्थिति पर हमें अलग अध्याय में विचार करना होगा। इसलिए यहां इस विषय की चर्चा अकर्त्तव्य है।

जर्मनी की परिस्थिति की, जहां मृत्यु से जन्म की संख्या बढ़ी हुई है, समीक्षा करने के बाद श्री ब्यूरो कहते है—"क्या हमें यह मालूम नहीं है कि राष्ट्रीय संपत्ति में फ्रांस का स्थान दुनिया के देशों में चौथा है और तीसरे नंबर वाले देश से बहुत पीछे ? फ्रांस ने वाणिज्य-व्यवसाय में

जो पूंजी लगा रखी है उससे उसे सालाना २५ अरब फ्रांक की आमदनी होती है, जर्मनी को ५० अरब की होती है।······हमारी जमीन की मालियत ३५ बरस के अन्दर–१८७६ से १६१४ के बीच–४० अरब फ्रांक घट गई–६२ अरब से ५२ अरब की हो गई। देश के सभी जिलों में खेती-किसानी का धंधा करनेवालों की कमी है और कुछ जिलों की दशा तो यह है कि जहां देखो वहां बूढ़े-ही-बूढे दिखाई देते हैं।" वह और कहते हैं—"नैतिक उच्छृंखलता और व्यवस्थित प्रयत्न से प्राप्त वंध्यात्व का अर्थ यह होता है कि समाज की स्वाभाविक शक्तियां क्षीण हो जायं और सामाजिक जीवन में बूढ़ों का पक्का प्राधान्य स्थापित हो जाय।···· फ्रांस में हजार आदमी पीछे केवल १७० बच्चों का औसत आता है, जब कि जर्मनी में वह २२० और इंग्लैंड में २१० है।·······बूढ़ों की संख्या का अनुपात जितना होना चाहिए उससे अधिक है, और दूसरे लोग, जिन्होंने नीति-रहित जीवन और प्रयत्न-प्राप्त-वंध्यात्व के फल-स्वरूप जवानी में ही बुढ़ापे को बुला लिया है, गतबल राष्ट्र के सारे वृद्धजनोचित कायरपन में हिस्सेदार हो रहे हैं।

इसके बाद श्री ब्यूरो कहते हैं—"हम जानते हैं कि फ्रांस की जनता का ७०-८० प्रतिशत भाग अपने शासकों की इस 'घरेलू बात' (ढीली-ढाली नीति) की ओर से उदासीन है, क्योंकि किसी की खानगी जिन्दगी के बारे में पूछ-ताछ करना ठीक नहीं समझा जाता।" और श्री लियो पोल्डमोनो का निम्नलिखित उक्ति को बड़े खेद के साथ उद्धृत करते हैं—

"निन्दित बुराइयों के निष्कासन के लिए युद्ध करना और उनसे पीड़ित जनों का उद्धार करना प्रशंसनीय कार्य है। पर उन लोगों का क्या उपाय है जिनकी भीरुता यह नहीं जान पाई है कि प्रलोभनों से अपनी अन्तरात्मा, अपनी विवेक वृत्ति की रक्षा किस तरह करनी चाहिए; जिनका साहस एक प्यार या रूठने की एक भाव भंगी के सामने घुटने टेक देता है;...जो लज्जा को तिलांजलि देकर, बल्कि शायद

अपने इस कारनामे पर गर्व करते हुए, उस प्रतिज्ञा को भंग करते हैं जो उन्होंने अपना युवा-काल की जीवन-संगिनी के साथ बड़े उल्लास से और विधि-विधान के साथ की थी; जो अपनी अति-रंजित और स्वार्थमयी अहन्ता के अत्याचार से अपने कुटुम्बियों को त्रस्त किये रहते हैं ? ऐसे आदमी दूसरों का उद्धार किस तरह कर सकते हैं ?"

श्री ब्यूरो अपने कथन का उपसंहार यों करते है —

"इस प्रकार हम चाहे जिधर निगाह डालें, हम सदा यही देखते हैं कि हमारे नीति-सदाचार के बन्धन तोड़ देने का फल व्यक्ति, कुटम्ब और समाज सबके लिए बहुत बुरा हुआ है, उससे हमारी इतनी हानि हुई है कि वह सचमुच अवर्णनीय है। हमारे युवा जनों का कामुक आचरण, वेश्या-वृत्ति, गन्दी पुस्तकों, चित्रों के प्रचार और पैसे, बड़प्पन या भोग-विलास के लिए ब्याह करना, व्यभिचार और तलाक, अपने से बुलाया हुआ बांझपन और गर्भपात—इन सबने मिलकर राष्ट्र का तेज-बल नष्ट कर दिया और उसकी बाढ़ मार दी है। व्यक्ति में शक्ति-संचय की योग्यता नहीं रह गई और जो बच्चे पैदा हो रहे हैं वे संख्या में कम होने के साथ-साथ शारीरिक एवं मानसिक शक्ति में भी पिछली पीढ़ियों से हीन होने लगे। 'प्रौढ़ बच्चे और अधिक अच्छे स्त्री-पुरुष' का नारा उन लोगों को मोह लेता है जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के विषय में अपनी जड़वादी दृष्टि के कैदखाने में पड़े रहकर यह सोचा करते हैं कि हम आदमियों की नस्ल भी भेड़-बकरियों और घोड़ों की तरह पैदा की जा सकती है। आगस्त काम्ते ने इन लोगों पर तीखा व्यंग्य करते हुए कहा था—'अच्छा होता कि हमारे सामाजिक रोगों का इलाज करने के ये दावेदार पशु-वैद्य बने होते, क्योंकि व्यक्ति और समाज दोनों की जटिल मनोरचना का समझ लेना तो उनके बस की बात नहीं।'

"सच यह है कि मनुष्य जीवन म जितनी भी दृष्टियों को ग्रहण करता है, जितने भी निश्चय करता है, जितना भी आदतें लगाता है उन सब

में एक भी ऐसी नहीं जो उसके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर वैसा असर डाले जैसा काम-वासना की तृप्ति के विषय में उसकी दृष्टि, उसके निश्चयों और उसकी आदतों का पड़ा करती है। चाहे वह उसको वश में रखे या खुद उसके इशारे पर नाचता रहे, सामाजिक जीवन के दूर-से-दूर कोने में भी उसकी प्रतिध्वनि सुनाई देगी, क्योंकि प्रकृति का यह विधान है कि हमारे गुप्त-से-गुप्त और निजी-से-निजी काम की प्रतिक्रिया भी अति व्यापक हो।

"इसी गुप्त विधान की कृपा से जब हम नीति-नियम का किसी रूप में उल्लंघन करने लगते हैं तो अपने-आपको यह भुलावा देने की कोशिश करते हैं कि हमारे कुकर्म का कोई अधिक बुरा फल न होगा। खुद अपने बारे में तो पहले हम उससे सन्तुष्ट होते हैं, क्योंकि अपनी रुचि या सुख ही हमारे उस कार्य का हेतु होता है। समाज के विषय में हम सोचते हैं कि हमारी तुच्छ हस्ती से वह इतना ऊंचा है कि वह हमारे दुष्कर्म की ओर आंख उठाकर देखने का कष्ट भी न करेगा। सर्वोपरि, हम मन ही मन यह आशा रखते हैं कि दूसरे सब लोग सच्चे और सदाचारी बने रहेंगे। सब से बुरी बात यह है कि जब तक हमारा आचरण असाधारण और अपवाद रूप कार्य होता है तब तक यह कापुरुषोचित आशा प्रायः सफल होती रहती है। फिर इस सफलता से फूलकर हम बार-बार वही आचरण करने लगते हैं और जब उसे करना होता है उसे जायज़ मान लेते हैं। यही हमारे कर्म का सबसे बड़ा दण्ड है।

"पर एक वक्त आता है जब इस आचरण के द्वारा उपस्थित किया हुआ उदाहरण हमें और तरह से धर्म-च्युत करने का भी कारण होता है। हमारा हर एक दुष्कर्म 'दूसरों' में जिस धर्मनिष्ठता का हम विश्वास रखते आये हैं उसको अपने में पैदा करना अधिक कठिन, अधिक वीरोचित कार्य बना देता है। हमारा पड़ोसी भी बार-बार ठगे जाने से खीझकर हमारी नकल करने को अधीर हो जाता है। बस उसी दिन से हमारा अधःपात प्रारम्भ होता हो और हर आदमी यह सोच

सकता है कि उसके दुष्कर्मों के क्या-क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं और उसकी जिम्मेदारी कितनी बड़ी है।

"अपने गुप्त कर्म को हम जिस तहखाने में छिपा हुआ मानते थे उससे वह निकल आता है। उसमें अंतःप्रवेश की शक्ति होती है जिससे वह समाज के अंगों में व्याप्त हो जाता है। सभी सबके रोष का फल भुगतते हैं, क्योंकि हमारे कर्मों का प्रभाव भंवर से उठनेवाली नन्हीं लहरों की तरह समाज-जीवन के दूर-से-दूर के कोनों तक पहुंचता है।

"नीति-नाश जाति के रस-स्रोतों को तुरंत सुखा देता है और जवानों को झटपट बुढ़ापे की ओर ढकेलकर शरीर और मन दोनों से निर्बल बना देता है।"

४ : इलाज—संयम और ब्रह्मचर्य

नीति-नाश और गर्भनिरोध के कृत्रिम साधनों के उपयोग से उसकी वृद्धि तथा उसके भयावह परिणामों की चर्चा करने के बाद श्री ब्यूरो ने इस बुराई को दूर करने के उपायों पर विचार किया है। उन्होंने पहले कानून-कायदों की मदद से इसे रोकने के प्रश्न और उनकी आवश्यकता पर विचार किया है और उन्हें नितांत व्यर्थ बताया है। पुस्तक के इस अंश की चर्चा मुझे छोड़ देनी होगी। इसके बाद उन्होंने अविवाहित के लिए ब्रह्मचर्य की, मानव जाति का जो बहुत बड़ा भाग सदा के लिए अपनी काम-वासना को जीत नहीं सकता उसके लिए ब्याह की, विवाहित स्त्री-पुरुष के लिए एक दूसरे के प्रति सच्चा, वफादार रहने तथा विवाहित जीवन में संयम की और इनके पक्ष में लोकमत तैयार करने की आवश्यकता पर विचार किया है। "ब्रह्मचर्य स्त्री-पुरुष की प्रकृति के विरुद्ध है और उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके सुखपूर्वक जीने तथा जिस जगह चाहे रहने-सहने के अधिकार पर असह्य आघात है।" इस तर्क की उन्होंने समीक्षा की है। वह इस सिद्धांत को सही मानने से इन्कार करते हैं कि 'जननेंद्रिय

भी और इंद्रियों जैसी है और उसे भी काम मिलना ही चाहिए ।' वह पूछते हैं—"ऐसा है तो हमारी संकल्प-शक्ति को जो कामवासना को पूरी तरह रोक रखने की शक्ति प्राप्त है, उससे या इस तथ्य से हम इसका मेल किस तरह बैठायंगे कि कामवासना का जगना उन अगणित उत्तेजनाओं का फल होता है जिन्हें हमारी सभ्यता वयः प्राप्ति के कई बरस पहले ही हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों के लिए जुटा देती है ?

संयम से स्वास्थ्य की हानि नहीं होती बल्कि वह स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है और सर्वथा साध्य है । इस दावे की पुष्टि में पुस्तक में जो बहुमूल्य डाक्टरी शहादतें इकट्ठी की गई हैं उन्हें उद्धृत करने का लोभ मैं रोक नहीं सकता ।

टबिंगन विद्यापीठ (जर्मनी) के प्रोफेसर ओस्टरलेन लिखते हैं—" कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती कि नीति-बल और विवेक से वह दबाई, बल्कि पूरी तरह वश में न लाई जा सके । युवतियों की तरह युवकों को भी योग्य वय प्राप्त होने तक उसे काबू में रखना सीखना चाहिए । उन्हें जानना चाहिए कि इस इच्छाकृत त्याग का फल तगड़ा शरीर और हमेशा ताजादम बना रहनेवाला बल-उत्साह होता है ।"

"इस बात को चाहे जितनी बार दुहराइये, अधिक न होगा कि भोग-विलास और पूर्ण पवित्र-जीवन का शरीरशास्त्र (फिजियालोजी) और नीतिशास्त्र के नियमों के साथ पूरा मेल है, और असंयत विषय-भोग का शरीरशास्त्र तथा मानसशास्त्र भी उतना ही विरोध करते हैं जितना धर्म और नीति ।"

लंदन के रायल कालिज के प्रोफेसर सर लायोनल बील कहते हैं—"श्रेष्ठ पुरुषों के उदाहरणों से यह बात सदा सिद्ध हुई है कि हमारी सबसे दुर्दम वासनाएं दृढ़ और पक्के संकल्प से और रहने-सहने के तरीके तथा काम-धंधे के बारे में काफी सावधानी रखकर काबू में लाई जा सकती हैं । ब्रह्मचर्य से कभी किसी को हानि नहीं हुई बशर्ते कि वह किसी तरह की लाचारी से नहीं बल्कि खुशी से अपनाई हुई जीवन-विधि के

रूप में धारण किया गया हो। सार यह है कि कौमार्य इतना कठिन नहीं है कि चल न सके, पर शर्त यह है कि वह मन की अवस्था-विशेष की बाह्य अभिव्यक्ति हो।···ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय संयम नहीं होता, मन के भावों का निर्मल होना और वह शक्ति भी होता है जो पक्के विश्वास से मिला करती है।"

स्विट्जरलैंड के मानसशास्त्री फारल कामसंबंधी अनियमितताओं की चर्चा कैसे सौम्य भाव से करता है—जो उसके पाण्डित्य के सर्वथा अनुरूप है। वह कहता है—"व्यायाम से नाड़ी संस्थान की हर एक क्रिया तेज और सशक्त होती है। इसके विपरीत अंगविशेष की निष्क्रियता उस उत्तेजित करनेवाली बातों का असर घटा देती है। काम-प्रवृत्ति को छेड़नेवाली सभी बातें भोग की इच्छा को भड़काती हैं। इन उत्तेजनाओं से बचते रहें तो वह कुछ मन्द हो जाती है और धीरे-धीरे बहुत घट जाती है। युवक-युवतियों में यह खयाल फैला हुआ है कि संयम प्रकृतिविरुद्ध और अनहोनी बात है। पर बहु संख्यक जन जो उसका पालन कर रहे हैं इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि स्वास्थ्य की किसी तरह हानि किये बिना ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है।"

रिबिंग का कहना है—"२५, ३० या इससे भी ऊंची उम्र के कितने ही व्यक्तियों को मै जानता हूं जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया या जिन्होंने ब्याह होने तक उस नियम को निबाहा। ऐसे लोग इने-गिने नहीं हैं, हाँ वे अपना ढिंढोरा नहीं पीटते फिरते। मुझे तन-मन दोनों से स्वस्थ कितने ही विद्यार्थियों के गोपनीय पत्र मिले हैं जिन्होंने मुझे इसलिए कोसा है कि विषय-वासना को वश में लाना कितना सहज है इस पर मैंने उतना जोर नहीं दिया जितना देना चाहिए था।"

डाक्टर ऐक्टन कहते हैं कि ब्याह के पहले युवकों को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।"

ब्रिटिश राज-दरबार के चिकित्सक सर जेम्स पेजेट का कहना है कि "ब्रह्मचर्य से जिस तरह आत्मा की हानि नहीं होती उसी तरह शरीर की

भी नहीं होती। संयम सर्वश्रेष्ठ आचार है।"

डाक्टर ई० पेरिये लिखते हैं—"पूर्ण ब्रह्मचर्य को तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक मानना एक विचित्र भ्रम है। इस भ्रम की जड़ खोद डालनी चाहिए क्योंकि यह बच्चों के ही नहीं बापों के मन को भी बिगाड़ रहा है। ब्रह्मचर्य युवकों के लिए शारीरिक, मानसिक और नैतिक तीनों दृष्टियों से कवच रूप है।"

सर ऐंड्रू क्लार्क कहते हैं—"संयम से कोई हानि नहीं होती, शरीर की बाढ़ में बाधा नहीं होती। वह शक्ति को बढ़ाता और मन-इन्द्रियों को सतेज करता है। असयम मन-इद्रियों को बस में रखने की शक्ति घटाता, ढिलाई की आदत लगाता, जीवन की सारी क्रियाओं को मंद करता और बिगाड़ता और ऐसे रोगों को निमंत्रण देता है जिनकी विरासत कई पीढ़ियों तक चली जाय। कामवासना की असंयत तृप्ति युवकों के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, यह कहना भूल ही नहीं उनके प्रति अत्याचार भी है। यह कथन असत्य और हानिकर दोनों है।

डाक्टर सर ब्लेड लिखते है—"असंयत विषयभोग की बुराइयां निर्विवाद है, पर संयम की बुराइयां कपोलकल्पना मात्र हैं। पहली के विवेचन में बड़े-बड़े पोथे लिखे गए हैं, पर दूसरी को अभी तक अपना इतिहास लिखनेवाले का इन्तज़ार है। संयम से होनेवाली हानि के बारे में जो कुछ कहा जाता है वह कुछ गोल-मटोल बातें हैं जिन्हें बात-चीत के दायरे के बाहर आने और समीक्षा की कसौटी पर चढ़ने की हिम्मत नहीं होती।"

डाक्टर मोंते गाजा 'लाजिफियालोजी देलामूर' (काम का शरीर-शास्त्र) नाम की पुस्तक में लिखते हैं—"ब्रह्मचर्य से किसी को कोई रोग हुआ हो यह अबतक मैंने नहीं देखा।......सभी लोग, खासकर युवा पुरुष, उसके तुरंत होनेवाले लाभों का अनुभव कर सकते हैं।"

बर्न (स्विटजरलैंड) के नाड़ीसंस्थान के रोगों की चिकित्सा के यशस्वी अध्यापक डाक्टर दुबॉय लिखते हैं—"नाड़ीसंस्थान की दुर्बलता-

दिल-दिमाग की कमजोरी के मरीज जितने उन लोगों मे मिलते हैं जो अपनी कामवासना की लगाम बिलकुल ढीली किये रहते हैं उतने उन लोगों में नहीं जो जानते हैं कि अपनी पाशव प्रवृत्तियों की गुलामी से कैसे बचा जा सकता है। बिसेत्र अस्पताल के चिकित्सक डाक्टर फेरे उनकी इस शहादत की पूरी तरह पुष्टि करते हैं। वह कहते हैं कि जो लोग अपने मन को निर्मल रख सकते है वे अपने स्वास्थ्य की ओर से निर्भय रहकर ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते है। स्वास्थ्य कामवासना की तृप्ति पर अवलंबित नहीं होता।

प्रोफेसर आलफ्रेद फूर्नियं लिखते हैं—"ब्रह्मचर्य रखने से युवकों के स्वास्थ्य के लिए खतरा होने के बारे में कुछ अयुक्त और गम्भीरता-रहित बातें कही जाती हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि ये खतरे अगर सचमुच हैं तो मैं उनके बारे मे बिलकुल ही अनजान हूं और एक चिकित्सक की हैसियत से मुझे अब तक उनके अस्तित्त्व का प्रमाण नहीं मिला है, यद्यपि अपने धंधे के सिलसिले में मुझे उनकी जानकारी होने का पूरा मौका हासिल था। इसके सिवा शरीर शास्त्र का अध्ययन करने वाले की हैसियत से मै यह भी कहूंगा कि मोटे हिसाब २१ की उम्र के पहले सच्चा वीर्य या पुरुषत्व नहीं प्राप्त होता, और दूषित उत्तेजनाएं कामवासना को समय से पहले जगा न दे तो तब तक सहवास की आवश्यकता भी नहीं पैदा होती। कामवासना का समय से पहले जगना अस्वाभाविक बात है और आम तौर से बच्चों का लालन-पालन गलत तरीके से किये जाने का फल होता है।

"कुछ भी हो इतना तो पक्का समझिये कि काम-वासना को समय से पहले जगाने और तृप्त करने में जितना खतरा होता है उसे रोकने दबाने में उससे कहीं कम होता है।"

ये अति प्रामाणिक शहादतें, जो आसानी से बढ़ाई जा सकती हैं, पेश करने के बाद श्री ब्यूरो अन्त में वह प्रस्ताव उद्धृत करते हैं जिसे १९०२ ई० में ब्रसेल्स (बेल्जियम) में हुए रोगों से बचने के उपायों पर

विचार करन वाले दूसरे सार्वदेशिक सम्मेलन में उपस्थित १०२ चिकित्सा-पंडितों ने एक मत से स्वीकार किया था। इस सम्मेलन के प्रतिनिधि अपने विषय के दुनिया में सबसे अधिक प्रामाणिक पंडित थे। प्रस्ताव का भाव यह है--"युवकों को यह बता देना और सब शिक्षाओं से अधिक आवश्यक है कि संयम और ब्रह्मचर्य से उनके स्वास्थ्य की कोई हानि नहीं हो सकती बल्कि शुद्ध चिकित्सा शास्त्र और स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से भी इन गुणों को अपनाने की उनसे पूरे जोर के साथ सिफारिश की जानी चाहिए।"

अनन्तर श्री ब्यूरो लिखते हैं—"क्रिस्टियानिया (नारवे) विद्यापीठ के चिकित्सा-विभाग के अध्यापकों ने कुछ बरस पहले सर्वसम्मति से यह घोषणा की थी कि 'संयम का जीवन स्वास्थ्य की हानि करने वाला है' यह कथन हमारे सर्वस्वीकृत अनुभव के अनुसार निराधार है। पवित्र और सदाचारयुक्त जीवन से कोई हानि होने की बात हमें मालूम नहीं।"

"इस प्रकार सारा मुकदमा सुन लिया गया और समाजशास्त्री तथा नीतिशास्त्री अब श्री रूइसां के स्वर में स्वर मिलाकर इस बुनियादी और शरीरशास्त्र द्वारा अनुमोदित सत्य की घोषणा कर सकते हैं कि 'कामवासना आहार और अंगों से काम लेने की आवश्यकताओं जैसी वस्तु नहीं है जिसका एक खास हद तक तृप्त होना आवश्यक हो। यह सत्य है कि कुछ असाधारण कोटि के, किसी तरह की विकृति से पीड़ित जनों को छोड़कर, और सभी स्त्री-पुरुष संयम, पवित्रता का जीवन बिता सकते हैं, इससे न उनके जीवन में कोई बड़ा उपद्रव उपस्थित होगा और न कोई क्लेश ही होगा। इस बात को जितनी बार भी दुहराएं अधिक न होगा, क्योंकि ऐसी बुनियादी सचाइयों की उपेक्षा होना सामान्य बात है, कि ब्रह्मचर्य के पालन से साधारण स्त्री-पुरुषों को, जिनके तन-मन की बनावट में कोई खास खराबी नहीं है–और १०० में ९८-९९ ऐसे ही लोग होते हैं—कभी कोई रोग कष्ट नहीं होता, पर

अनेक भयानक और सर्वविदित बीमारियां असंयत विषय-भोग का ही प्रसाद होती हैं। शुक्र-शोणित के अतिरेक का अति सरल और अचूक उपाय प्रकृति ने स्वप्नदोष और रजोधर्म के रूप में कर ही दिया है।

"अतः डाक्टर वीरी का यह कहना बिलकुल सही है कि यह प्रश्न किसी सच्ची प्राकृतिक प्रेरणा या आवश्यकता की तृप्ति-पूर्ति का नहीं है। हर आदमी जानता है कि क्षुधा की तृप्ति न करने या सांस लेना बन्द कर देने का दण्ड उसे क्या मिलेगा। पर कोई किसी तात्कालिक या दिनी बीमारी का नाम नहीं बता सकता जो थोड़े दिनों तक या यावज्जीवन ब्रह्मचर्य-पालन से पैदा होती हो। साधारण जीवन में हम ऐसे ब्रह्मचर्यधारियों को देखते हैं जिनका चरित्र किसी से कम बलवान् नहीं है, जिनका शरीर भी दूसरों से कम तगड़ा नहीं और ब्याह करें तो सन्तानोत्पादन के सामर्थ्य में भी किसी से पीछे नहीं है। जिस आवश्यकता में इतना उतार-चढ़ाव हो सकता है, जो नैसर्गिक प्रेरणा-तृप्ति के अभाव को इतनी आसानी से सह लेती है, वह न आवश्यकता हो सकती है न प्रकृति से प्राप्त प्रेरणा।"

"कामवासना की तृप्ति बढ़नेवाली वय के बालक की किसी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती, बल्कि उलटे पूर्ण ब्रह्मचर्य ही उसकी साधारण बाढ़-विकास के लिए अत्यावश्यक है, और जो लोग उसको भंग करते हैं वे अपने स्वास्थ्य की कभी पूरी न हो सकनेवाली हानि करते हैं। कोई बालक या बालिका जब जवान होने लगती है तो उसके तन-मन में बहुत से गहरे उलट-फेर होते हैं, अनेक शारीरिक क्रियाओं में सच्ची गड़बड़ पैदा हो जाती है। सारा शरीर बढ़ता, पुष्ट होता है। किशोर अवस्थावाले बालक को अपनी सारी शक्ति बटोर रखने की जरूरत होती है, क्योंकि इस उम्र में अकसर रोगों का आक्रमण रोकने की शक्ति घट जाती है और इस उम्र वाले और छोटी उम्रवालों की तुलना में अधिक बीमार होते तथा मरते हैं। शरीर की सामान्य बाढ़ का लम्बा काम, विभिन्न अंगों,

इन्द्रियों का विकास, देह और मन में लगातार होनेवाले वे बहु-संख्यक परिवर्तन जिनके अन्त में बालक पुरुष बनता है, ये सब ऐसे काम हैं जिनके लिए प्रकृति को गहरी मेहनत करनी पड़ती है। ऐसे नाजुक वक्त में हर तरह का अतिरेक, किसी भी अंग-इन्द्रिय-से अधिक काम लेना, खतरनाक है, जननेन्द्रिय का समय से पहले उपयोग तो खास तौर से खतरनाक है।"

५ : व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दलील

ब्रह्मचर्य के शारीरिक लाभों की चर्चा करने के बाद श्री ब्यूरो उसके नैतिक और मानसिक लाभ बताने के लिए प्रोफेसर मोंतेगाजा की पुस्तक का निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं—

"सभी लोग, खासकर युवक, ब्रह्मचर्य के तत्काल होनेवाले लाभों का अनुभव कर सकते हैं। स्मृति स्थिर और धारक, मस्तिष्क सजीव और उद्भावनाक्षम हो जाता है। संकल्प-शक्ति सबल-सतेज हो जाती है। सारे चरित्र में वह बल आ जाता है कामुक जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य का तिनपहला शीशा हमारे आसपास की सारी चीजों को, हमारी दुनिया को जैसे स्वर्गीय रंगों से रंजित कर देता है वैसा और कोई कलम नहीं कर सकती। विश्व की छोटी-से-छोटी चीज को भी वह अपनी किरणों से आलोकित कर देता है, हमें उस नित्य सुख के शुद्धतम आनन्द में पहुंचा देता है जो न घटना जानता है और न छीजना। ब्रह्मचारी का आनन्द, हार्दिक उल्लास और प्रसन्नता से भरा आत्मविश्वास और उसके विषयवासना के गुलाम साथियों के बेचैन किये रहनेवाले बद्धमूल विचार और बोखलाहट में फंसा दिन-रात का-सा अन्तर है!"

संयम के लाभों की कामुकता और ऐयाशी के कुपरिणामों से तुलना करते हुए लेखक कहता है—"संयम से पैदा होनेवाले किसी रोग का नाम कोई नहीं बता सकता, पर असंयत विषयभोग से होनेवाली

डरावनी बीमारियों को कौन नहीं जानता ? देह तो सड़ा-गली चीज बनती ही जाती है, कल्पनाशक्ति, हृदय और बुद्धि की दशा और भी बुरी हो जाती है। हर तरफ से चरित्र के पतन, युवकों की उद्दाम कामुकता और स्वार्थपरता की बाढ़ का रोना सनाई देता है।"

यह तो हुई वीर्य-व्यय का तथोक्त आवश्यकता और उसके कारण ब्याह के पहले युवकों के नीति की लगाम कुछ ढीली रखने के औचित्य की बात। इस आजादी के हिमायती यह भी कहते हैं कि काम-वासना का नियंत्रण मनुष्य के अपने शरीर से चाहे जिस तरह काम लेने की स्वतंत्रता का हरण है। लेखक सबल दलीलों से यह सिद्ध करता है कि समाजशास्त्र और मानसशास्त्र की दृष्टि से यह रोक आवश्यक है। वह कहता है—

"सामाजिक जीवन केवल बहुविध संबंधों का एक जाल, क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का ताना-बाना है। उसके बीच कोई ऐसा काम हो ही नहीं सकता जिसे हम दूसरों से बिलकुल अलग, असम्बद्ध कह सकें। हम जो कुछ भी करने का निश्चय या यत्न करें, हमारी अखण्डता, हमारा एक दूसरे से लगा-जुड़ा होना हमारे निश्चय और कार्य का संबंध हमारे भाइयों के विचारों और कार्यों से जोड़ देगा। हमारे छिपे विचार और छन भर के लिए मन में उठनेवाली कामवासना की प्रतिध्वनि भी इतनी दूर तक पहुंचती है कि हमारा मन उस दूरी का अंदाजा नहीं कर सकता। सामाजिकता मनुष्य का ऐसा गुण नहीं है जो बाहर से लिया गया हो या जिसका काम किसी और गुप्त वृत्ति का पोषण मात्र हो। वह तो उसका सहज गुण है, उसकी मनुष्यता का ही अंग है। वह सामाजिक इसीलिए है कि वह मनुष्य है। हमारे कामों का दूसरा कोई भी मैदान इसके जितना सच्चे अर्थ मे हमारा अपना नहीं। शरीरशास्त्र और नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति बुद्धि और सौन्दर्य भावना के कार्य-क्षेत्र, हमारे धार्मिक और सामाजिक कार्य—सभी एक विश्वव्यापी विधान के साथ रहस्यभरे सूत्रों से बंधे और

अनिर्दिष्ट संबंधों से जुड़े हुए हैं। यह बंधन इतना दृढ़ है, जाल इतना गठ कर बुना हुआ है कि बेचारा समाजशास्त्री सम्पूर्ण देश और काल को अतिक्रमण करके उसके सामने खड़ी इस विराट् सत्ता को देखकर कभी-कभी चक्कर में आ जाता है। वह एक ही निगाह में इसका अंदाजा कर लेता है कि कुछ विशेष अवस्थाओं में व्यक्ति की जिम्मेदारी कितनी बड़ी होती है, और कुछ सामाजिक हलके उसे जो आज़ादी देने के इच्छुक हो सकते हैं उसे स्वीकार कर वह किस तरह क्षुद्र बन जाने की जोखिम उठाता है।

लेखक और कहता है—"अगर हम कह सकते हैं कि कुछ खास हालतों में हमें सड़क पर थूकने की आज़ादी नहीं है···तो अपनी काम-शक्ति, अपने वीर्य को जिस तरह चाहें खर्च करने का अधिकार, जो उससे अधिक महत्त्व की वस्तु है, हमें कैसे मिल सकता है? क्या यह शक्ति अखण्डता के विश्वव्यापी विधान के बाहर है? उलटा हर आदमी यह देख सकता है कि उक्त क्रिया के आत्यन्तिक महत्त्व के कारण वैयक्तिक कार्य की समाज पर होनेवाली प्रतिक्रिया और बढ़ जाती है। इस नव-युवक और नवयुवती को देखिये जिन्होंने अभी-अभी वह नाजायज संबंध जोड़ा है जिसका रूप पाठक को ज्ञात है। उन्होंने मान लिया है कि इस समझौते का संबंध केवल उन्हींसे है, और किसीसे नहीं। अपनी स्वाधीनता के भ्रम में वे यह मान लेते हैं कि हमारे निजी और गुप्त कार्यों से समाज को कोई वास्ता-सरोकार नहीं, और वे उसके नियंत्रण से बिलकुल बाहर हैं। ऐसा सोचना उनकी निरी खामखयाली है। समाज की जो अखण्डता एक राष्ट्र के लोगों को और उससे भी आगे जाकर सम्पूर्ण मानव-जाति को एक लड़ी में पिरोती है उसे सभी तरह की दीवारों—शयनागारों की दीवारों का भी भेदन करने में भी कोई कठिनाई नहीं होती। परस्पर-संबंध की एक जबर्दस्त जंजीर हमारे निजी माने जानेवाले कार्यों को जिस समाज-जीवन के विघटन में वे सहायक हो रहे हैं उसके हजारों कोस दूर के कर्म-कलापों के साथ भी जोड़ देती है। हर आदमी

जो यह कहता है कि–किसी के साथ कुछ दिनों के लिए या गर्भ-धारण का बचाव करते हुए पति-पत्नी सम्बंध स्थापित करने का अधिकार है, उसे इसकी आज़ादी है कि प्रकृति से प्राप्त अपनी जनन-शक्ति–अपने वीर्य–का केवल अपने आनंद के लिए उपभोग करे, वह चाहे या न चाहे पर वह समाज के अंदर भेद-बिलगाव और विशृंखलता के बीज बो रहा है। हमारी सभी सामाजिक संस्थाए हमारी स्वार्थपरता और उनके प्रति अपने कर्त्तव्य के अपालन से विकृत तो हो ही रही हैं, वे यह मान लेती हैं कि कामवासना की तृप्ति के साथ जो जिम्मेदारी आती है हर आदमी उसे खुशी से उठा लेगा। इस स्वीकृति को मानकर ही समाज ने श्रम और संपत्ति, मजदूरी और वरासत, कर और सैनिक रूप में राष्ट्र की सेवा आदि अगणित व्यवस्थाएं बनाई हैं। पार्लमेंट के चुनाव में मत देने का अधिकार और नागरिक स्वतंत्रता के इस बोझ को उठाने में अपना कंधा लगाने से इनकार करके व्यक्ति सामाजिक समझौते के मूल तत्त्व पर ही हरताल फेरता है, और चूंकि वह ऐसा करके दूसरों का बोझ और बढ़ा देता है इसलिए वह दूसरों का शोषण करनेवाले, दूसरों की कमाई पर जीनेवाले चोर और ठग से अच्छा कहलाने का अधिकारी नहीं है। हम अपनी और सभी शक्तियों के समान अपनी शारीरिक शक्ति के सदुपयोग के लिए भी समाज के सामने जवाबदेह हैं, और चूंकि वह निहत्था और बाहरी दवाब के साधनों से लगभग बिलकुल ही रहित होने के कारण उस शक्ति को समझदारी के साथ और समाज के भले का ध्यान रखते हुए काम में लाने का भार हमारे सद्भाव को ही सौंप देने को लाचार है, इसलिए हमारी यह जिम्मेदारी और बड़ी मानी जा सकती है।

लेखक मानसशास्त्र के आधार पर भी अपनी बात उतनी ही जोर से कहता है। उसका कहना है—"स्वाधीनता ऊपर से देखने में तो राहत या कष्ट से छुटकारा है, पर वास्तव में वह एक भारी बोझ है। यही उसकी महत्ता भी है। वह हमें बांधती और विवश करती है।

जितनी कोशिश करना हर आदमी पर फ़र्ज़ है वह उससे अधिक करने का आदेश देती है। व्यक्ति स्वाधीन होना चाहता है, अपनी स्वतंत्रता का विकास करके अपने आप को व्यक्त करने, अपनी आकांक्षाओं को कार्यरूप देने की इच्छा उसके अंतर में प्रज्वलित है। यह काम देखने में तो बहुत सहल और बहुत सीधा जान पड़ता है। पर पहला ही अनुभव उसे बता देता है कि वह कितना टेढ़ा और पेचीदा है। एकता हमारी प्रकृति और हमारे नैतिक जीवन की प्रधान विशेषता है। हम अपने अंतर में बहुविध और परस्पर विरोधिनी प्रेरणाओं का अनुभव करते हैं; उनमें से हर एक में हमें अपने-आप का पता होता है। फिर भी हर बात हमें बताती है कि हमें उनमें कुछ का ग्रहण और और कुछ का त्याग करना होगा। युवा पुरुष, तुम कहोगे कि मैं अपनी इच्छाओं, विचारों का जीवन बिताना चाहता हूं, अपने-आपको व्यक्त करना चाहता हूं। पर महान् शिक्षक फारेस्टर के शब्दों में हम तुमसे पूछते हैं कि तुम अपने व्यक्तित्त्व के किस भाग को कार्यरूप देना चाहते हो ? उसका कौन-सा अंश अच्छा है—जो तुम्हारी मानसशक्ति का केन्द्र है वह या वह जो तुम्हारी प्रकृति में सबसे नीचे रहता है, उसका वासनामय भाग ? अगर यह बात सच है कि व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगति का आधार अध्यात्मभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि और जड़ प्रकृति पर आत्मा का पूर्ण प्रभुत्व है तो हमारा चुनाव क्या होगा, यह निश्चित है। पर हर हाल में हममें कर्म-शक्ति तो होनी ही चाहिए, और यह काम आसान नहीं है। इसके जवाब में शायद तुम कहो कि मुझे चुनाव नहीं करना है—एक को अपनाने दूसरे को छोड़ने के पचड़े में नहीं पड़ना है। मुझे तो अपने जीवन को अखण्ड सत्ता के रूप में ही उपलब्ध करना है। ठीक है, पर याद रक्खो, यह निश्चय खुद ही एक चुनाव है। क्योंकि यह मेल विग्रह के बाद बना है। अमर जर्मन कवि गेटे ने कहा था 'मरकर जन्मो' और यह शब्द १९०० साल पहले कहे हुए हजरत ईसा के इस वजन की प्रतिध्वनि मात्र है—'तथास्तु, मैं तुमसे कहता हूं कि धरती पर गिरने वाला गेहूं का

दाना जब तक मरता नहीं वह अकेला रहता है । पर वह मरता है तो बहुत से नए दाने पैदा कर देता है ।'

श्री जब्रील सीले लिखते हैं—"हम मर्द बनना चाहते हैं' यह कहना तो बहुत आसान है । पर यह अधिकार कर्त्तव्य, कठोर कर्त्तव्य बन जाता है जिसके पालन में कमोबेश सभी विफल होते हैं । हम आजाद होना चाहते हैं, इसकी घोषणा हम धमकी के लहजे में करते हैं । आजादी का मतलब अगर यह हो कि हम जो जी में आये वह करें, अपनी पशु-प्रवृत्तियों के गुलाम हो जायं, तो यह स्वाधीनता हमारे गर्व की वस्तु न होनी चाहिए । हां, अगर हम सच्ची स्वाधीनता की बात कह रहे हों तो हमें कभी समाप्त न होनेवाले संग्राम के लिए कमर कस लेनी चाहिए । हम अपनी एकता, भीतर बाहर से बिलकुल एक होने और स्वाधीनता की बातें करते हैं और गर्व के साथ मान लेते हैं कि हम ईश्वर के अमर पुत्र हैं । पर दुःख है कि इस आत्मा को अगर हम पकड़ना चाहते हैं तो वह हमारी पकड़ के बाहर हो जाती है । वह ऐसी असम्बद्ध वस्तुओं का समूह बन जाती है जो एक दूसरे के अस्तित्त्व को अस्वीकार करती हैं, वह परस्परविरोधी इच्छाओं की खींचातानी का झूला झूलती रहती है । वह जिस स्वाधीनता के उपभोग का दावा करती है वह गुलामी के सिवा और कुछ नहीं । पर वह उसे गुलामी लगती नहीं, इसलिए वह उसका विरोध नहीं करती ।"

रूइसाँ कहते हैं—"संयम शांति से भरा हुआ गुण और असंयम दुर्जय दोषों को निमंत्रण देनेवाला दुर्गुण । काम-वासना का जगना यों तो हर समय कष्ट का कारण होता है, पर युवावस्था में तो वह एक मूलगत विकृति, इच्छाशक्ति और इन्द्रियों के सन्तुलन के सदा के लिए बिगड़ जाने का संकेत हो सकता है । किसी नवयुवक का किसी स्त्री के के साथ प्रथम सम्पर्क उसे जीवन का एक क्षणिक अनुभव-सा जान पड़ता है, पर वह नहीं जानता कि वह वास्तव में अपने शारीरिक, मान-सिक और नैतिक तीनों जीवनों के साथ खिलवाड़ कर रहा है । वह नहीं

जानता कि यह वासना अब प्रेत की तरह उसका पीछा करेगी—घर, दफ्तर, जलसा, दावत हर जगह उसको परेशान करेगी; यह दूसरे के मन पर उसकी विजय उसके लिए इन्द्रियों की जन्म भर की गुलामी बन जायगी। हम जानते हैं कि कितने खिलते जीवन, कितने 'होनहार बिर-वे' स झंझा में झुलस गये जिसका आरम्भ उनके पहले नैतिक पतन, ब्रह्मचर्य के प्रथम भंग से हुआ।"

एक यशस्वी कवि की ये पंक्तियां इस दार्शनिक के इस वचन की प्रतिध्वनि हैं—

"मनुष्य की आत्मा एक गहरा बरतन है। उसमें पड़ने वाली बूंदें समल हों तो सारे समुद्र का पानी भी उस धब्बे को धो नहीं सकता।" (भावार्थ)

ग्लासगो विद्यापीठ के शरीरशास्त्र के अध्यापक जान जी० एम० कंड्रिक की, जो अपने विषय के प्रख्यात पंडित हैं, यह सलाह भी उसकी वैसी ही प्रतिध्वनि है—"उगती हुई कामवासना की तृप्ति अविहित नीति दोष ही नहीं है, शरीर की भयानक क्षति भी है। इस वासना के आदेश का तुमने एक बार पालन किया कि फिर उसका निरंकुश शासन तुम्हारे ऊपर स्थापित हुआ। अपने को दोषी समझने वाला तुम्हारा मन उसका हुक्म बजाने में सुख भोगेगा और उसे और बेकही बना देगा। उसकी आज्ञा का प्रत्येक पालन आदत की जंजीर में एक नई कड़ी बनता जायगा। बहुतों में इस बेड़ी को तोड़ने का बल नहीं होता और वे अपने तन-मन का बुरी-तरह नाश कर डालते हैं। वे अपनी आदत के गुलाम हो जाते हैं; जो आम तौर से मन की किसी विकृति के कारण नहीं बल्कि ज्ञान वश ही लग जाती है।"

इस मत की पुष्टि में श्री ब्यूरो डॉक्टर एस्कांदे की यह उक्ति उद्धृत करते हैं—

"कामवासना के बारे में हम जोर देकर कहते हैं कि बुद्धि और संकल्पशक्ति उसे पूरी तरह बस में रख सकती है। यहां वासना शब्द

का ही व्यवहार उचित है, शारीरिक आवश्यकता या हाजत का नहीं, क्योंकि वह शरीर का ऐसी मांग नहीं है जिसकी पूर्ति किये बिना हम जिंदा न रह सकें। सच तो यह है कि वह हाजत है ही नहीं। पर बहुतेरे उसे हाजत मानते हैं। इस वासना या इच्छा का जो अर्थ वे करते हैं वह उन्हें सहवास को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता मानने को मजबूर करता है। यहां हम कामवासना का उस तृप्ति का विचार नहीं कर रहे हैं जो प्रकृति के नियम के सामने सिर झुका देने का फल होती है, जो हम स्वभाव के वश होकर करते हैं। हमारा मतलब तो उस अपनी इच्छा से किये जानेवाले काम से है जो हमारे संकल्प या मन की मौन सम्मति से किया जाता है, जिसे हम अकसर पहले से सोचे हुए होते हैं और उसकी तैयारी भी कर रखते हैं।"

६ : आजीवन ब्रह्मचर्य

ब्याह के पहले और पीछे भी ब्रह्मचर्य-पालन की आवश्यकता पर जोर देने और वह न हो सकनेवाला या किसी तरह की हानि करनेवाला नहीं बल्कि सर्वथा साध्य और मन-देह दोनों के लिए सोलहो आने हितकर कार्य है, इसकी सिद्धि में सबूतों का ढेर लगा देने के बाद श्री ब्यूरो ने एक अध्याय में नैष्ठिक या आजीवन ब्रह्मचर्य के मूल्य महत्त्व, और साध्यता पर विचार किया है। उसका पहला पैराग्राफ उद्धृत करने योग्य है—

"इन उद्धारकों, काम-वासना की गुलामी से सच्चा छुटकारा दिलानेवाले इन वीरों की पहली श्रेणी में उन युवा पुरुषों और स्त्रियों के नाम लिए जाने चाहिए जो अपना जीवन किसी महत्कार्य में लगाने के विचार से आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निश्चय करते और गृहस्थ-जीवन के सुखों का लाभ त्याग देते हैं। उनके निश्चय के कारण परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। कोई बूढ़े अशक्त माता-पिता की सेवा के लिए यह व्रत लेता है, कोई अपने मातृ-पितृ-हीन भाई-बहनों के लिए

मां-बाप बनना चाहता है, किसी को अपने-आपको किसी कला-विज्ञान की आराधना में, दीन-दुखियों की सेवा में अथवा नीति-शिक्षा या धर्म-प्रचार के कार्य में अपना सारा समय और शक्ति लगाने की लगन है। इसी तरह इस इच्छाकृत त्याग का मूल्य भी न्यूनाधिक हो सकता है। सुशिक्षा और सदाचार के अभ्यास की कृपा से कुछ का मन ऐसा होता है कि विषय-भोग उसे एक तरह से ललचा ही नहीं सकते। दूसरों को अपना वासनाओं पर विजय पाने में अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के साथ घोर युद्ध करना पड़ता है, जिसकी कठोरता का पता केवल उन्हीं को होता है। पर अन्तिम निश्चय का स्वरूप सबके लिए एक ही होता है। ये स्त्री और पुरुष यह सोचते हैं कि ब्याह न करना ही उनके लिए सबसे अच्छा रास्ता है, और चाहे अपनी अंतरात्मा के, चाहे ईश्वर के सामने-यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि हम आजन्म अविवाहित रहकर पवित्रता का जीवन बितायेंगे। विवाह हमारा कितना ही पक्का असंदिग्ध कर्त्तव्य क्यों न हो, हम यह देख सकते हैं कि विशेष परिस्थितियों में अविवाह-व्रत जायज होता है, क्योंकि वह एक ऊंचे, उदात्त उद्देश्य के लिए लिया जाता है। माइकेल एंजेलो[1] को जब ब्याह की सलाह दी गई तो उसने जवाब दिया—'चित्र-कला ऐसी प्रेमिका है जो किसी की सौत बनना नहीं सह सकती।'

श्री ब्यूरो ने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेने वालों के जितने वर्ग गिनाये हैं, अपने यूरोपीय मित्रों में से लगभग उन सभी प्रकार के लोगों के अनुभवों से मैं इस शहादत की पुष्टि कर सकता हूँ। यह तो केवल हमारे हिंदुस्तान की ही विशेषता है कि हमें बचपन से ही अपने ब्याह की बातें सुननी पड़ती हैं। मां-बाप के मन में इसके सिवा न कोई दूसरा विचार है न हौसला कि उनके बच्चों की भावरें फिर जायँ और वे उनके

---

१ इटालियन चित्रकार और मूर्तिकार जिसकी गणना दुनिया के प्रमुख कलाकारों में है। (१४७५-१५६४ ई०)।

लिए काफी पैसा या जायदाद छोड़ जायँ। पहली बात उन्हें समय से पहले ही तन-मन से बूढ़ा बना देती है, और दूसरी आलसी और अक्सर परोपजीवी—दूसरे की मेहनत पर पलने वाला होने को प्रेरित करती है। ब्रह्मचर्य और स्वेच्छा से लिये हुए दारिद्रय-व्रत की कठिनाइयों को हम बढ़ा-चढ़ा कर दिखाते और उन्हें साधारण-जन की शक्ति के परे की बात बताते हैं। कहते हैं कि केवल 'महात्मा' और योगी ही इन व्रतों को निभा सकते हैं और हम संसारियों में उनके दर्शन कहां। वे यह भूल जाते हैं कि जिस समाज का साधारण जीवन गिरकर बहुत नीचे आ जाता है उस-में सच्चे महात्मा और योगी की पहचान नहीं की जा सकती। बुराई की चाल खरहे की और भलाई की कछुए की होती है। इस न्याय से पश्चिम की विलासिता विद्युत्-वेग से हमारे पास पहुंचती है और अपनी बहुरंगी छटा से हमारी आंखों में ऐसी चकाचौंध पैदा कर देती है कि हम जीवन की सचाइयां देखने में असमर्थ हो जाते हैं। पश्चिम की शान-शौकत की जग-मगाहट तारों से प्रतिक्षण, और पश्चिम के माल से हमारे देश को पाटने वाले जहाजों से प्रति-दिन हमारे पास पहुंच रही है। उसे देखकर हम संयम-सदाचारसे लज्जित-से होने लगे हैं, और अपने से लिये हुए दारिद्रय-व्रत को अपराध मान लेने को तैयार हो गए हैं। पर पच्छिम को हम हिंदु-स्तान में जिस रूप में देखते हैं वह बिलकुल वही चीज नहीं है। दक्षिण अफ्रीका के गोरे जैसे मुट्ठी-भर प्रवासी भारतीयों को देखकर संपूर्ण भारतीयों के रहन-सहन और चरित्र का अंदाजा लगाते हैं तो हमारे साथ अन्याय करते हैं; वैसे ही पश्चिम से जो मानव (मनुष्य रूप) और दूसरी तरह का माल रोज-ब-रोज हमारे यहां पहुंच रहा है उसे हम सारे पाश्चात्य जगत् को नापने का पैमाना बना लें तो हम भी उसके साथ वैसा ही अन्याय करने के अपराधी होंगे। पश्चिम में भी पवित्रता और नीति-बल का एक नन्हा-सा पर कभी न सूखने वाला सोता है और जिनकी आंखें परदे के पार जा सकती हैं, वे धोखा देने वाले ऊपरी सतह के नीचे उसके दर्शन कर सकते हैं। यूरोप के रेगिस्तान में हर

जगह ऐसे नखलिस्तान, ऐसे हरे-भरे टुकड़े मौजूद हैं जहां जाकर जो चाहे जीवन के स्वच्छतम जल से अपनी प्यास बुझा सकता है। सैकड़ों स्त्री और पुरुष बिना ढोल पीटे, बिना किसी शेखी-शान के पूरी नम्रता के साथ आजीवन ब्रह्मचर्य और गरीबी की जिन्दगी बिताने का व्रत लेते हैं। बहुतेरे किसी प्रियजन या स्वदेश की सेवा के लिए ही उसे ग्रहण करते हैं।

आध्यात्मिकता के बारे में हम अक्सर इस तरह की बातें किया करते हैं जैसे साधारण व्यावहारिक जीवन से उसका कुछ लगाव ही न हो और वह हिमालय के बनों में बसने या उसकी किसी अगम्य गुफा म समाधि लगाने वाले योगियों के लिए ही सुरक्षित हो। जिस आध्यात्मिक साधना का हमारी राज को जिंदगी से लगाव न हो, जिसका उस पर कुछ असर न पड़ता हो, वह महज हवाई चीज है। जिन युवकों और युवतियों के लिए 'यंग इंडिया' में हर हफ्ते लिखा जाता है उन्हें जान लेना चाहिए कि अगर उन्हें अपने आस-पास के वायु-मंडल को शुद्ध और अपनी कमजोरी को दूर करना हो तो ब्रह्मचर्य का पालन करना उनका कर्त्तव्य है और वह यह भी जान लें कि वह उतना कठिन नहीं है जितना उन्हें बताया गया है।

श्री ब्यूरो की राय थोड़ी और सुन लीजिए—"समाज-शास्त्र हमारी जीवन-प्रणाली के विकास को ज्यों-ज्यों समझता जा रहा है त्यों-त्यों आजीवन ब्रह्मचर्य से इंद्रिय-संयम के महान् कार्य में मिलने वाली सहायता के मूल्य का उसे अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है।" विवाह अगर समाज के बहुत बड़े भाग के लिए जीवन की स्वाभाविक स्थिति है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि सभी ब्याह कर सकते हैं या सबको करना ही चाहिए। जिन असाधारण जीवन-व्यवसायों की बात हमने अभी-अभी कही है उनको अलग रखिए तो भी अविवाहित रहने वालों के कम-से-कम तीन वर्ग तो ऐसे हैं जिन्हें ब्याह न करने के लिए कोई दोष नहीं दे सकता—(१) जो लोग—स्त्री-पुरुष दोनों—अपने पेशे की बाधा या पैसे

की कमी के कारण ब्याह को आगे के लिए टाल रखना जरूरी समझते हैं। (२) जो लोग अपने मन का वर-वधू न पा सकने के कारण न चाहते हुए भी अविवाहित रहने को मजबूर हैं। (३) जिन लोगों में कोई ऐसा शारीरिक दोष या रोग होता है जिसके बच्चों को भी होने का डर हो, और फलतः जिन्हें अविवाहित रहना ही चाहिए बल्कि उसका खयाल भी दिल से निकाल देना चाहिए।

इन लोगों का यह त्याग उनका अपना सुख और समाज का हित दोनों की दृष्टि से आवश्यक है। क्या यह देखकर वह कम क्लेशकर और प्रसन्नताजनक न हो जायगा कि ऐसे लोगों ने भी, जो तन-मन से पूर्ण स्वस्थ सशक्त हैं और जिनके पास पैसा भी काफी या काफी से ज्यादा है, आजीवन ब्रह्मचर्य-धारण का व्रत ले लिया है। ये अपनी इच्छा और पसंद से अविवाहित रहने वाले, जिन्होंने अपना जीवन भगवान्, भगवद्-भजन और आत्मा की साधना को समर्पित करने का संकल्प किया है, कहते हैं कि ब्रह्मचारी का जीवन हमारी निगाह में जीवन की हीन नहीं बल्कि अधिक ऊंची अवस्था है, जिसमें मनुष्य अपनी पशु-प्रवृति या सहज प्रेरणा पर संकल्प के पूर्ण प्रभुत्व की घोषणा करता है।

वे और लिखते हैं—"उन नवयुवकों और नवयुवतियों को, जो अभी ब्याह की उम्र को नहीं पहुंचे हैं, आजीवन ब्रह्मचर्य यह दिखाता है कि अपनी जवानी को पवित्रतापूर्वक बिता देना उनके बूते के बाहर की बात नहीं है; विवाहितों को वह इसकी याद दिलाता है कि उनको दाम्पत्य जीवन के नियमों के अधीन होना चाहिए, और नैतिक उदारता या एक दूसरे के प्रति सच्चे रहने के धर्म के आदेशों की अवहेलना कर किसी स्वार्थ-भावना की तृप्ति का यत्न, वह कितनी ही न्याय-संगत क्यों न हो, कदापि न करना चाहिए।"

फोस्टर लिखता है—'ब्रह्मचर्य का व्रत ब्याह का दरजा गिराता नहीं उलटे वह दाम्पत्य सम्बंध की पवित्रता का सबसे बड़ा सहारा है, क्योंकि अपनी प्रकृति या पशु-वृत्ति की अधीनता से मनुष्य की मुक्ति की वह ठोस

शक्ल है। वासनाओं और विकारों के हमले के सामने वह कवच का काम करता है। वह ब्याह की भी इस अर्थ में रक्षा करता है कि विवाहित स्त्री-पुरुषों को वह यह मानने से रोकता है कि पति-पत्नी के रूप में हम दुर्ज्ञेय प्राकृतिक प्रेरणाओं के गुलाम नहीं हैं, बल्कि हम स्वाधीन मनुष्य की तरह उनसे लोहा लें और उन पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जो लोग आजीवन ब्रह्मचर्य को अस्वाभाविक या अनहोनी बात बताकर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं वे जानते नहीं कि वे वास्तव में क्या कर रहे हैं। वह यह नहीं देख पाते कि जो विचार-धारा उन्हें ब्रह्मचर्य का मजाक उड़ाने को प्रेरित कर रही है वह उन्हें व्यभिचार और बहुपत्नीत्व या बहुपतित्व के गढ़े में गिराकर रहेगी। प्रकृति के आदेश का पालन अगर अनिवार्य है, उसकी उपेक्षा मनुष्य के बूते के बाहर की बात है, तो विवाहित स्त्री-पुरुषों से सदाचारयुक्त जीवन की आशा कैसे रखी जा सकती है? वे यह भी भूल जाते हैं कि वैसे ब्याहों की संख्या कितनी बड़ी होती है जिनमें पति-पत्नी में से किसी एक को दूसरे के रोग या दूसरे प्रकार की असमर्थता के कारण महीनों, बरसों या आजीवन सच्चे ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। अकेले एक इसी कारण से सच्चे एक-पत्नी-व्रत या एक-पति-व्रत को हम ब्रह्मचर्य के बराबर ही दर्जा देते हैं।

७ : विवाह धार्मिक संस्कार है

आजीवन ब्रह्मचर्य के अध्याय के बाद कई अध्यायों में विवाह के धर्मरूप और अविच्छेद्य होने पर विचार किया गया है। श्री ब्यूरो यद्यपि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ जीवन मानते हैं, पर साधारण-जन के लिए उसका पालन शक्य नहीं, अतः ऐसे लोगों के लिए विवाह को धर्मरूप मानना होगा। उन्होंने दिखाया है कि ब्याह का उद्देश्य और मर्यादा ठीक तौर से समझ ली जाय तो गर्भ-निरोध के साधनों का समर्थन किया ही नहीं जा सकता। आज जो समाज में सर्वत्र नैतिक अराजकता का राज दिखाई दे रहा है वह दूषित नीति-शिक्षा की

ही देन है।

ब्याह का मज़ाक उड़ाने वाले 'प्रगतिशील' लेखकों के विचारों की समीक्षा करने के बाद वह लिखते हैं—"इन नीति-शिक्षक बनने वालों और लेखकों में बहुतेरे नीति-ज्ञान से बिलकुल कोरे और कुछ साहित्य-सेवा की सच्ची भावना से भी रहित हैं। इसे आने वाली पीढ़ियों का सौभाग्य समझना चाहिए कि इनकी यह राय हमारे समय के सच्चे मानस-शास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों का मत नहीं है। अखबार, कहानी, उपन्यास और नाटक—सिनेमा की शोर-शराबे वाली दुनिया और उस जगत् का, जहां विचारों का उत्पादन और हमारे मानस और सामाजिक जीवन के गूढ़ तत्त्वों का सूक्ष्म अध्ययन होता है, बिलगाव जितना पक्का और पूरा यहां दिखाई देता है उतना और कहीं नहीं है।"

श्री ब्यूरो स्वच्छन्द प्रेम की दलील को अस्वीकार करते हैं। मोदेस्ताँ की तरह वह भी मानते हैं कि "विवाह स्त्री और पुरुष का मिलकर एक हो जाना, सारी जिन्दगी का साथ, और दिव्य तथा मानव न्याय्य अधिकारों की साझेदारी है। वह 'महज कानूनी इकरार' नहीं बल्कि एक 'संस्कार', एक धार्मिक कर्त्तव्य, है। उसने "गोरिल्ला को सीधा खड़ा होना सिखाया है—बनमानस को मनुष्य बनाया है।" यह सोचना भारी भ्रम है कि विधिवत् विवाहित स्त्री-पुरुष के लिए सब कुछ जायज़ है। और पति-पत्नी सन्तानोत्पादन-विषयक नैतिक संयम का पालन करते हों तो भी उनका मैथुन के अपने को रुचने वाले अन्य उपायों को अपनाना नाजायज़ है। यह रोक खुद उनके हित के लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी समाज के हित के लिए, जिसका पोषण और वर्धन ही उनके पति-पत्नी बनने का उद्देश्य होना चाहिए। उनका कहना है कि ब्याह काम-वासना को जिस कड़े बंधन में बांधता है उसको व्यर्थ करने के जो नित नये रास्ते निकल रहे हैं वे शुद्ध प्रेम के लिए भारी खतरा हैं। इस खतरे को दूर करने का उपाय केवल यही है कि हम

काम-वासना की तृप्ति उस हद के अंदर ही रहकर करने की सावधानी रखें, जो खुद ब्याह के उद्देश्य ने ही बांध दी है।

सन्त फांसिस कहते हैं--"उग्र औषध का व्यवहार हमेशा खतरनाक होता है, क्योंकि अगर वह जरूरत से ज्यादा खा ली गई या ठीक तौर से न बनी तो उससे भारी अपकार होता है। ब्याह कामुकता की दवा बताया जाता है और निस्सन्देह वह उसकी बहुत बढ़िया दवा है, पर साथ ही बहुत तेज काम करने वाली दवा ह, इसलिए सम्हालकर काम में न लाई गई तो बहुत खतरनाक भी होती है।"

श्री ब्यूरो इस मत का खण्डन करते हैं कि व्यक्ति को इसकी स्वतन्त्रता है कि जब चाहे विवाह-बन्धन में बंधे या उसे तोड़ फेंके, या उसकी जिम्मेदारियां न उठाते हुए मनमाना विषय-सुख भोगे। वह एक-पत्नी-व्रत पर जोर देते हैं और कहते हैं--

"यह कहना गलत है कि व्यक्ति ब्याह करने या उसकी स्वार्थबुद्धि कहे तो अविवाहित रहने को स्वतन्त्र है। यह बात तो और भी गलत है कि यथाविधि-विवाहित स्त्री-पुरुष, आपस की रजामन्दी से, जब चाहे अपना विवाह-बंधन तोड़ सकते हैं। एक दूसरे को चुनते समय वे स्वतन्त्र थे और उन पर फ़र्ज है कि पूरी जानकारी और अच्छी तरह सोच-विचार कर लेने के बाद ही यह चुनाव करें, तथा उसी आदमी को अपना जीवन-संगी बनायें जिसके विषय में उन्हें विश्वास हो कि जिस नये जीवन में वे प्रवेश करने जा रहे हैं उसकी जिम्मेदारियों का बोझ वे उसके साथ उठा सकेंगे। पर ज्यों ही संस्कार और व्यवहार रूप में विवाह सम्पन्न हुआ, पति-पत्नी शारीरिक अर्थ में पति-पत्नी बने, कि उनका काम उन दो आदमियों के बीच की ही बात नहीं रह जाता, उसका असर सब ओर बहुत दूर-दूर तक पड़ने लगता है, और उससे ऐसे परिणाम होने लगते हैं जिनका पहले से अनुमान करना कठिन है। हो सकता है कि ये नतीजे इस अराजक व्यक्तिवाद के युग में खुद पति-पत्नी के ध्यान में न आयें, पर ज्यों ही गार्हस्थ्य-जीवन की स्थिरता को धक्का लगा, ज्यों ही ब्याह

एकनिष्ठ दाम्पत्य जीवन के हितकर संयम के बदले चंचल काम-वासना की तृप्ति का साधन बना, त्यों ही सारे समाज को जो घोर कष्ट मिलने लगता है वह उन परिणामों के महत्त्व का यथेष्ट प्रमाण है। जो आदमी इन व्यापक परिणामों और इस सूक्ष्म सम्बन्ध-जाल को समझता है उसके लिए इस ज्ञान का कुछ अधिक महत्त्व नहीं कि चूंकि मनुष्य के बनाये सारे धर्म-विधान विकास के विश्व-व्यापी नियम के अधीन हैं इसलिए औरों की तरह विवाह-व्यवस्था में भी आवश्यक परिवर्तन होना ही चाहिए। कारण, यह कि यह बात शंका-सन्देह से परे है कि इस दिशा में हमारा प्रगति का रूप केवल यही हो सकता है कि ब्याह का बन्धन और कड़ा हो जाय। आज विवाह के जन्म भर का बन्धन होने, कभी तोड़े न जा सकने पर जो हमले किये जा रहे हैं और पति-पत्नी को आपस का रजामन्दी से चाहे जब तलाक देने का अधिकार मिलने की मांग की जा रही है उससे इस बन्धन का समाज के हित के लिए आवश्यक होना और अधिक स्पष्ट हो जायगा। और ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे यह स्पष्ट होता जायगा यह नियम जो सदियों तक, जब समाज उसके सामाजिक मूल्य को पहचान न सकता था, धर्म का एक अनुशासन-मात्र बना रहा, व्यक्ति के लिए भी उतना ही हितकर है जितना समाज के लिए।

"विवाह-बन्धन के अटूट होने का नियम हमारा शृंगार, बड़प्पन का दिखावा मात्र, नहीं है, वह वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सबसे नाजुक पुरजों के साथ जुड़ा हुआ है। और चूंकि लोग क्रम-विकास की बातें किया करते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि मानव-जाति का यह अनन्त प्रगति, जिसे सभी इष्ट मानते हैं, किस बात पर अवलंबित है।

"फोर्स्टर लिखता है—अपनी जिम्मेदारियों का खयाल बढ़ना, व्यक्ति को अपने से नियम-बंधन में बंधने की शिक्षा मिलना, धैर्य और उदारता की वृद्धि, स्वार्थ-भावना का अंकुश में रहना, क्षणिक विकारों-वासनाओं के उपद्रव से रागात्मक जीवन की रक्षा होना—ये सभी ऐसी बातें हैं जिन्हें हम उच्च सामाजिक संस्कृति के लिए सदा अनिवार्य और

इस कारण आर्थिक परिस्थिति में भारी उलट-फेर होने से होने वाली गड़बड़ों का असर उन पर न पड़ने देना अपना कर्तव्य मान सकते हैं। सच तो यह है कि आर्थिक प्रगति समाज की सामान्य प्रगति की अनुगामिनी होती है, इसलिए कि आर्थिक सुरक्षा और सफलता अन्त में हमारे सामाजिक सहयोग की सचाई पर ही अवलंबित होती है। जो आर्थिक परिवर्तन इन बुनियादी शर्तों की उपेक्षा करता है वह अपनी जड़ अपने ही हाथों काट देता है। अतः अगर हमें काम-सम्बन्ध को विभिन्न रीतियों के गुण-दोष का नैतिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से विचार करना है, तो हमें यह देखना होगा कि उसकी कौन-सी रीति, इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के पोषण और दृढ़ीकरण के लिए सर्वोत्तम है। कौन जीवन की भिन्न-भिन्न मंजिलों में व्यक्ति के अन्दर अपने दायित्व का अधिक-से-अधिक ज्ञान और आत्म-त्याग का भाव उत्पन्न कर सकता है, उसकी असंयत स्वार्थ-परता और चंचल भोग-वासना पर कड़ा-से-कड़ा अंकुश रख सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर ही इस विचार में निर्णायक होगा। प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार किया जाय तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि एकनिष्ठ विवाह, एक ही स्त्री को पत्नी और एक ही पुरुष को पति रूप में स्वीकार करने का नियम हर अधिक उन्नत सभ्यता का स्थायी अंग होना ही चाहिए, क्योंकि समाज के हित और व्यक्ति को संयम की शिक्षा देने की दृष्टि से वह बहुत ही मूल्यवान् हैं। सच्ची प्रगति विवाह-बंधन की गांठ को ढीली करने के बजाय और कड़ी कर देगी।···कुटुम्ब मनुष्य के अपने-आप में सामाजिक जीवन की योग्यता उत्पन्न करने के सारे प्रयत्न का, अर्थात् जिम्मेदारी, सहानुभूति, मनोनिग्रह, एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता रखने और एक-दूसरे को शिक्षा देने की सारी तैयारी का केन्द्र है। वह इस आसन पर इसलिए विराज रहा है कि वह हमारे जीवन में सदा बना रहता है, उसके साथ हमारा सम्बन्ध अविच्छेद्य है, अटूट है और इस स्थायित्व के कारण साधारण कुटुम्ब-जीवन और व्यवस्थाओं की बनिस्बत अधिक गहराई वाला,

अधिक स्थिर और मनुष्य-मनुष्य के परस्पर व्यवहार के लिए अधिक उपयुक्त है। एकनिष्ठ विवाह को हम मनुष्य के सारे सामाजिक जीवन का हृदयरूप कहें तो अनुचित न होगा।"

आगस्त कांते के कथनानुसार—"हमारा चित्त इतना चंचल है कि हमारी छन-छन में बदलने वाली वासनाओं को अंकुश में रखने के लिए समाज को हस्तक्षेप करना ही होगा। नहीं तो वे मनुष्य के जीवन को निकम्मे और निरर्थक अनुभवों की शृंखला-मात्र बना देंगी।"

डाक्टर तूलूज लिखते हैं—"यह भ्रम बहुतेरे स्त्री-पुरुषों के दाम्पत्य जीवन को दुःखमय बना देता है कि काम-वासना दुर्दम प्रवृत्ति है जिसकी तृप्ति जैसे भी बने करनी ही होगी।....पर मनुष्य-स्वभाव की विशेषता यही है और उसके विकास का प्रकट उद्देश्य भी यही मालूम होता है कि अपनी प्रकृति की मांगों, अपनी हाजतों की हुकूमत से दिन-दिन अधिक स्वतन्त्र होता जाय। बच्चा अपनी स्थूल आवश्यकताओं को रोकना, दबाना सीखता है, वय-प्राप्त स्त्री-पुरुष अपने मनोविकारों पर विजय प्राप्त करना। सुशिक्षा की यह योजना कोरी कल्पना की उड़ान या व्यावहारिक जीवन के बाहर की बात नहीं है। हमारी प्रकृति की बनावट यही कहती है कि हम अपने सकल्प या इच्छा-शक्ति के ही अधीन रहें—जो करना चाहें वही करे। जिसे हम 'मिजाज' या स्वाभाव कहा करते हैं वह आम तौर से महज हमारी कमजोरी होता है। जो आदमी सचमुच बलवान है वह जानता है कि कब और कैसे अपनी शक्तियों से काम लेना होता है।"

८ : उपसंहार

अब इस लेख-माला को समाप्त करना चाहिए। श्री ब्यूरो ने मालथस[1] के सिद्धात की जो समीक्षा की है उसका अनुसरण हमारे लिए आवश्यक नहीं है। मालथस ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन कर अपने

---

१ टामस राबर्ट मालथस, ब्रिटिश अर्थ-शास्त्री, १७६६-१८३४ ई०

जमाने के लोगों को चौंका दिया था कि दुनिया की आबादी हद से ज्यादा हो रही है और मानव-वंश को लुप्त होने से बचाना हो तो हमें जरूरत से ज्यादा बच्चे पैदा करना बंद करना होगा। फिर भी उसने इंद्रिय-संयम का समर्थन किया था। पर उसके सिद्धांत के नए अनुयायी कहते हैं कि अपनी वासनाओं से लड़ना बेकार बल्कि हानिकारक है। हमें ऐसे रासायनिक द्रव्यों और आलों से काम लेना चाहिए जिससे हम उनकी तृप्ति तो करते रहें पर उसके नतीजों से बच जायं। श्री ब्यूरो आवश्यकता से अधिक बच्चे पैदा न करने के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं, पर वह कहते हैं कि यह काम इंद्रिय-संयम के सहारे किया जाय, और जैसा कि हम देख चुके हैं, दवाओं, यन्त्रों-आलों के उपयोग का जोरों से विरोध करते हैं। इस समीक्षा के बाद उन्होंने श्रमिक वर्गों, मेहनत-मजदूरी करने वालों की दशा और उनमें बच्चों के जन्म के अनुपात पर विचार किया है और अन्त में उन साधनों की समीक्षा की है जिनसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मनुष्यता के नाम पर आज जो भयानक अनीति फैल रही है उसकी रोक-थाम हो सकती है। उन्होंने लोकमत को ठीक रास्ता दिखाने और उस पर चलाने के लिए संघटित प्रयत्न होने और इसमें राज्य के दखल देने—कानून से सहायता लेने की भी सलाह दी है। पर अन्त में यही कहा है कि जन-समाज में धर्म-भाव का जगना ही इस रोग का सच्चा इलाज है। नीति-नाश की बाढ़ मामूली उपायों से नहीं रोकी जा सकती, खासकर उस दशा में जब व्यभिचार, सद्गुण और सदाचार हमारे मन की दुर्बलता, अंध-विश्वास या असदाचार भी बनाया जाने लगा हो। कृत्रिम साधनों से गर्भ-निरोध के कितने ही समर्थक निःस्संदेह संयम को अनावश्यक बल्कि हानिकारक भी बताते हैं। ऐसी अवस्था में धर्म की सहायता ही जायज मान लिये गए पाप को रोकने में समर्थ हो सकती है। धर्म को यहां संकीर्ण साम्प्रदायिक अर्थ में न लेना चाहिए। सच्चा धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों के जीवन में जितनी उथल-पुथल मचाता है उतना और कोई चीज नहीं

मचा सकता। धर्म भाव के जागने का अर्थ व्यक्ति के जीवन में क्रान्ति होना, उसका रूप बदल जाना, उसे नया जीवन मिलना होता है। और कोई ऐसी महाशक्ति ही फ्रांस को विनाश के उस गढ़े में गिरने से बचा सकती है जिसकी ओर श्री ब्यूरो की राय में वह अग्रसर हो रहा है।

पर अब हमें श्री ब्यूरो और उनकी पुस्तक से छुट्टी लेनी ही होगी। फ्रांस की स्थिति हिंदुस्तान की तरह नहीं है; हमारी समस्या बहुत कुछ भिन्न ह। गर्भ-निरोध के साधनों का उपयोग अभी यहां देश-व्यापी नहीं बना है। यह बुराई अभी अकेले शिक्षित-वर्ग में प्रविष्ट हुई है और उसे भी छू भर पाई है। भारत में उनका व्यवहार होने के लिए मेरी समझ से एक भी कारण नहीं बताया जा सकता। मध्यम-वर्ग के दम्पति क्या सचमुच बच्चों की बाढ़ से परेशान हैं? कुछ व्यक्तियों के उदाहरण यह साबित करने के लिए काफ़ी नहीं हो सकते कि मध्यवित्त वर्ग में जरूरत से बहुत ज्यादा बच्चे पैदा हो रहे हैं। यहां तो मैं देखता हूं कि विधवाओं और बालवधुओं के लिए ही इन साधनों के उपयोग की आवश्यकता बताई जाती है। इस प्रकार विधवाओंके विषय में तो उनका गुप्त सहवास नहीं, बल्कि अवैध सन्तान की उत्पत्ति रोकना हमें अभीष्ट है और बाल वधुओं के मामले में कोमल वय की बालिका पर बलात्कार होना नहीं, बल्कि उसे गर्भ रह जाना ही वह चीज़ है जिससे हम डरते हैं। इसके बाद रह जाते हैं रोगी, दुर्बल, पुरुषोचित गुणों से रहित युवक; जो चाहते हैं कि अपनी पत्नी या पराई स्त्री के साथ शक्ति-भर विषय-भोग करते रहें, पर इस पाप कर्म के परिणाम उन्हें न भुगतने पड़ें। उससे मैं यह कहने का साहस कर सकता हूं कि भारतीय जनता के इस महासमुद्र में ऐसे स्त्री-पुरुष इने-गिने ही निकलेंगे, जो बल-वीर्य सम्पन्न होते हुए भी चाहते हैं कि हम सहवास का सुख तो लें पर बच्चों का बोझ उठाने से बच जायं। अपने उदाहरणों का ढिंढोरा पीटकर उन्हें इस क्रिया की आवश्यकता सिद्ध करने का यत्न और उसकी वकालत न करनी चाहिए, जिसका व्यापक प्रचार इस देश में हुआ तो यहां

के युवक वर्ग का सर्वनाश होना निश्चित है। अति कृत्रिम शिक्षा-प्रणाली ने हमारे युवकों को शरीर और मन के बल से यों ही वंचित कर रखा है, हममें से बहुतेरे बचपन में ब्याहे हुए मां-बाप की संतान हैं। स्वास्थ्य और शौच के नियमों की उपेक्षा ने हमारे शरीर को घुन लगा दिया है। हमारी गलत, पोषक तत्त्वों से रहित और उत्तेजक मसालों से भरी खूराक ने हमारी पाचन-शक्ति का दिवाला निकाल दिया है। अतः हमें गर्भ-निरोध के साधनों से काम लेने की शिक्षा और अपनी पशु-वृत्ति की तृप्ति में सहायता की आवश्यकता नहीं है। बल्कि उस वासना को वश में करने और कुछ लोगों को जिंदगी-भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ले लेने की शिक्षा लगातार मिलते रहने की आवश्यकता है। उपदेश और उदाहरण दोनों से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि ब्रह्मचर्य सर्वथा चलने लायक, और अगर हमें तन-मन से अधमरा बनकर नहीं जीना है तो अत्यावश्यक व्रत है। यह बात पुकार-पुकार कर हमारे कानों में डाली जानी चाहिए कि अगर हमें बौनों की जाति नहीं बनना है तो जो प्राण-शक्ति हमारे पास बच रही है और जिसे हम नित्य नाश कर रहे हैं उसका संचय करना और उसे बढाने का यत्न करना होगा। हमारी युवती विधवाओं को गुप्त व्यभिचार की शिक्षा की नहीं, बल्कि इस उपदेश की आवश्यकता है कि साहस के साथ सामने आकर समाज से पुनर्विवाह की मांग करें, जिसका उन्हें भी उतना ही अधिकार है जितना विधुर युवकों को। हमें ऐसा लोकमत बनाना है जिसमें अबोध, अवय-प्राप्त बच्चों का ब्याह नामुमकिन हो जाय। हमारे विचार-संकल्प की अस्थिरता, हमारा कड़ी मेहनत और लगकर काम करने से भागना, हमारे शरीर का कड़ी और लगातार मेहनत के अयोग्य होना, बड़ी शान से शुरू किये गए हमारे कामों का बैठ जाना, नई बात सोचने की शक्ति का अभाव यह सब हमारे यहां आम हो रहा है, और इनका प्रधान कारण अत्यधिक वीर्य-नाश ही है। मैं आशा करता हूं कि नवयुवक अपने मन को यह भुलावा न देंगे कि बच्चे न जनमें तो संभोग से कोई हानि नहीं होती, कोई कमजोरी नहीं

आती। सच यह है कि गर्भ-स्थिति पर अस्वाभाविक रोक लगाकर किया जाने वाला संभोग उस संभोग से कहीं अधिक शक्ति का क्षय करता है, जो उस काम की जिम्मेदारी पूरी तरह समझते हुए किया जाय।

"मनः एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः"

हमारा मन यह मान ले कि काम-वासना की तृप्ति करने में कोई हानि और पाप नहीं है तो हम उसकी लगाम ढीली कर देना पसन्द करेंगे और फिर उसको रोकने की शक्ति ही हममें न रह जायगी। पर अगर हम अपने-आपको यह समझायें कि इस प्रकार का विषय-भोग हानिकर, पापमय और अनावश्यक है और उसकी इच्छा दबाई जा सकती है, तो हमें मालूम होगा कि अपने मन-इन्द्रियों को काबू में रखना सर्वथा शक्य बात है। नई सचाई और तथोक्त मानव स्वाधीनता के बहाने मदमत्त पश्चिमी स्वच्छन्द कामुकता की जो कड़ी शराब के कराबे हमारे सामने लाकर धर रहा है उससे हमें होशियार रहना चाहिए। उलटा अपने पुरखों का प्राचीन ज्ञान अब हमारे लिए बेकार हो गया हो तो पश्चिम की उस शांत-गम्भीर वाणी को ही सुनें जो वहां के ज्ञानी-जनों के बहुमूल्य अनुभवों से छनकर जब-तब हम तक पहुंच जाया करती है।

चार्ली[1], एंड्रूज ने श्री विलियम लाफ्ट्स हेयर का एक ज्ञान-गर्भ लेख मेरे पास भेजा है जो 'ओपेन कोर्ट' नामक मासिक पत्र के मार्च १९२६ के अंक में प्रकाशित हुआ था। लेख का विषय 'जनन और पुनर्जनन' है और वह तर्क-युक्तियों से पूर्णपोषित शास्त्रीय लेख है। लेखक ने दिखाया है कि सभी सप्राण पिण्डों, सभी प्राणियों की देहों में दो तरह की क्रियाएं सदा होती रहती है--शरीर को बनाने के लिए भीतरी उत्पादन और वंश-रक्षा के लिए बाह्य उत्पादन। पहली क्रिया को वह पुनर्जनन (रीजेनरेशन) और पिछली को जनन (जेनरेशन) कहता है। "पुनर्जनन की क्रिया--भीतरी उत्पादन व्यक्ति-जीवन का

१ स्वर्गीय श्री सी० एफ० एंड्रूज

आधार है, इसलिए आत्यावश्यक और मुख्य कार्य है। जनन-क्रिया कोषों के आधिक्य का परिणाम है, इसलिए गौण कार्य है।...जीवन का नियम है कि पहले पुनर्जनन के लिए बीज-कोषों का पोषण किया जाय, फिर जनन के लिए। पोषण की कमी हो तो पुनर्जनन की क्रिया पहले होगी और जनन का काम बन्द रखा जायगा। इससे हम जान सकते हैं कि जनन क्रिया के विराम की जड़ कहां है और वह कहां से चलकर हमारे ब्रह्मचर्य और तपस्या के जीवन तक पहुंची है। आन्तरिक उत्पादन की क्रिया कभी बन्द रह ही नहीं सकती, उसके बन्द रहने का अर्थ मृत्यु होगा। यह सूत्र हमें बताता है कि "मृत्यु अपने स्वाभाविक रूप में क्या चीज है।" पुनर्जनन क्रिया की शास्त्रीय विवेचना के बाद श्री हेयर कहते हैं--"सभ्य समाज में स्त्री-पुरुष का संयोग अगली पीढ़ी को पैदा करने की आवश्यकता से कहीं अधिक होता है। इससे आन्तरिक पुनर्जनन-शरीर के पोषण की क्रिया में बाधा पड़ती है और इसका फल रोग, मृत्यु और दूसरी खराबियां होती हैं।"

जिस आदमी को हिन्दू दर्शन का थोड़ा भी परिचय होगा उसे श्री हेयर के निबन्ध के इस पैराग्राफ का भाव समझने में कठिनाई न होगी—

"पुनर्जनन यांत्रिक क्रिया—बेजान कल के पुरजों का हिलना न है और न हो सकता है। वह तो जीव-सृष्टि में कोष के प्रथम विभाजन की तरह प्राण या जीवन का अस्तित्व बताने वाला व्यापार है। अर्थात् वह कर्ता में बुद्धि और संकल्प की शक्ति होने की सूचना देता है। प्राण-तत्त्व का विभाजन और बिलगाव--उसका विशिष्ट कार्यों की योग्यता प्राप्त करना—शुद्ध यांत्रिक क्रिया है, यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की ये मूलभूत क्रियाएं हमारी वर्तमान चेतना से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि कोई बुद्धिकृत या सहज संकल्प उनका नियमन करता है, यह नहीं जान पड़ता। पर क्षण भर के विचार से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि पूरी बाढ़ को पहुंचे हुए

मनुष्य का संकल्प जिस तरह उसकी बाह्य चेष्टाओं और क्रियाओं का संचालन, बुद्धि के निर्देशानुसार करता है, वैसे ही यह भी मानना होगा कि आरंभ में होने वाली शरीर के क्रमिक संघटन की क्रियाएं भी, अपनी परिस्थिति की सीमाओं के अदर, एक प्रकार की बुद्धि की रहनुमाई में काम करने वाली एक प्रकार की इच्छा-शक्ति या संकल्प के द्वारा परिचालित होती है। इस बुद्धि को मानस शास्त्र के पडित अचेतन मन या अन्तर-चेतना कहने लगे है। यह हमारी व्यष्टि-सत्ता, हमारे आत्मा का ही एक अंग है जो हमारे साधारण चिन्तन से लगाव न रखते हुए भी अपने निज के कर्तव्यों के विषय मे अतिशय जागरूक और सावधान रहता है। हमारी बाह्य चेतना सुषुप्ति, बेहोशी आदि में सो जाती है, पर यह कभी एक·क्षण के लिए भी आंखें नहीं मूंदती।"

केवल वासना-तृप्ति के लिए किये जाने वाले संभोग से हमारी सत्ता के अचेतन और अधिक स्थायी अग की जो लगभग अपूरणीय हानि हो रही है उसकी माप-तौल कौन कर सकता है? पुनर्जनन का फल मरण है। "मैथुन पुरुष के लिए मूलतः क्षय की क्रिया—मृत्यु की ओर प्रगति है, और प्रसव स्त्री के लिए।" इसीलिए लेखक का कहना है कि "पूर्ण ब्रह्मचर्य या ब्रह्मचर्य-सदृश संयम के पालन का पुरस्कार बल-वीर्य और आरोग्य होता है।" "बीजकोषों को शरीर-पोषण के कार्य से हटाकर सन्तानोत्पादन या केवल वासना-तृप्ति के लिए व्यय करना शरीर के अवयवों को उस पूजी से वंचित कर देता है जिससे वे अपनी रोज की छीज न पूरी कर सकते है। फलतः कुछ दिनों में वे अशक्त हो जाते हैं।" "ये शारीरिक तथ्य ही व्यक्ति के काम-संयम का आधार है, जो हमें वासना के पूर्ण दमन की नहीं तो उसकी संयत तृप्ति की शिक्षा अवश्य देते है—कम-से-कम इतना तो बता ही देते हैं कि संयम का मूल कहां है।

लेखक यंत्रों और दवाओं की सहायता से गर्भ-निरोध का विरोधी

है यह तो हम समझ हा सकते है। उसका कहना है—"इससे अपनी वासना को दबाने के लिए कोई बुद्धिसंगत हेतु नहीं रह जाता, और यह पति-पत्नी के लिए जब तक भोगेच्छा निर्बल नहीं हो जाती या बुढ़ापा नहीं आ जाता, तबतक वीर्य-नाश करते रहने का दरवाज़ा खोल देता है। इसके सिवा इसका बुरा असर वैवाहिक संबंध के बाहर भी पड़े बिना नहीं रहता। यह अनियमित, अवैध और अफलजनक संतानरहित सम्बन्ध का रास्ता खोल देता है, जो आधुनिक उद्योग-नीति, समाज-शास्त्र और राजनीति की दृष्टि से खतरे से भरी हुई बात है। पर यहां मैं उन हानियों की चर्चा नहीं कर सकता। इतना ही कहना काफी होगा कि गर्भ-निरोध के साधनों के उपभोग से विवाहित या अविवाहित दोनों दशाओं में काम-वासना की असंयत तृप्ति का सुभीता हो जाता है और शरीर-शास्त्र की जो दलीलें मैंने ऊपर दी हैं वे ठीक हों तो इससे व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होनी ही चाहिए।

श्री ब्यूरो ने जिस वाक्य से अपनी पुस्तक समाप्त की है, वह इस योग्य है कि हर एक भारतीय युवक उसे अपने हृदय की पटिया पर लिख ले—

"भविष्य उन्हीं राष्ट्रों का है जो सदाचारी हैं।"

: २ :

एकान्त की बात

ब्रह्मचर्य-पालन के विषय में तरह-तरह के प्रश्न करने वाले इतने पत्र मेरे पास आते हैं और इस विषय में मेरे विचार इतने पक्के हैं कि अपने अनुभव के फल पाठकों के सामने न रखना उचित न होगा, खासकर राष्ट्र के जीवन की इस अति नाजुक घड़ी में।

ब्रह्मचर्य संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ उसके अंग्रेजी पर्याय 'सेलिबेसी' (अविवाह-व्रत) से अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य के मानी हैं सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अशक्य नहीं। पर यह आदर्श स्थिति है जिस तक बिरले ही पहुँच पाते हैं इसे ज्यामिति की रेखा कह सकते हैं, जिसका अस्तित्व केवल कल्पना में होता है, दृश्य रूप में कभी खींची ही नहीं जा सकती। फिर भी रेखा-गणित की यह एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा है जिससे बड़े-बड़े नतीजे निकलते हैं। इसी तरह हो सकता है, पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना-जगत् में ही मिल सकता हो। फिर भी अगर हम इस आदर्श को सदा अपने मानस-नेत्रों के सामने न रखें तो हमारी दशा बिना पतवार की नाव जैसी हो जायगी। ज्यों-ज्यों हम इस काल्पनिक स्थिति के पास पहुंचेंगे त्यों-त्यों अधिकाधिक पूर्णता प्राप्त करते जायंगे।

पर तत्काल मैं वीर्य-रक्षा के संकुचित अर्थ में ही ब्रह्मचर्य पर विचार करना चाहता हूं। मैं मानता हूं कि आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मन, वाणी और कर्म सब में पूर्ण संयम का पालन आवश्यक है और जिस राष्ट्र में ऐसे स्त्री-पुरुष न हों वह रंक है; पर तत्काल मेरा प्रयोजन इतना ही है कि हमारा राष्ट्र इस समय विकास की जिस मंजिल से गुजर रहा है उसमें ब्रह्मचर्य को एक अल्पकालिक आवश्यकता

सिद्ध करूँ।

रोग, अकाल और कंगाली में हमारा हिस्सा औरों से बड़ा है। हमारे लाखों भाइयों को तो रोज भूखे पेट ही सोना पड़ता है। गुलामी की चक्की में हम ऐसे कौशल के साथ पीसे जा रहे है कि बहुतों को तो पिसने का पता तक नहीं चलता। यद्यपि आर्थिक, मानसिक और नैतिक शोषण का तिहरा क्षय हमें खा रहा है, फिर भी हम यही मानते है कि हम आजादी की राह में बराबर आगे बढ़ते जा रहे हैं। दिन-दिन बढ़ने वाला फौजी खर्च, लंकाशायर के कारखानों और दूसरे ब्रिटिश-व्यवसायों के लाभ की दृष्टि से निर्द्धारित कर-नीति और राज्य के विविध-विभागों के संचालन में बरती जाने वाली शाहाना फिजूल खर्ची—यह सब भारत का ऐसा भार बन रहा है जो उसकी गरीबी बढ़ाता और रोगों से लड़ने की शक्ति घटाता जा रहा है। गोखले के शब्दों में शासन के इस ढंग ने राष्ट्र की बाढ़ इतनी मार दी है कि हमारे बड़े-से-बड़े आदमी भी कमर सीधी रखकर खड़े नहीं हो सकते। अमृतसर में तो हिन्दुस्तानियों को पेट के बल रेंगना भी पड़ा। पंजाब का जान-बूझकर किया हुआ अपमान—और हिन्दुस्तान के मुसलमानों को दिये हुए वचन को उद्धतपन के साथ तोड़ने के लिए माफी मांगने से इन्कार हमारे नैतिक दारिद्रय की ताजा मिसालें है। ये घटनाएं सीधे हमारी आत्मा पर आघात कर रही हैं। इन दोनों अन्यायों को हमने सह लिया तो राष्ट्र को नपुसक बना देने की क्रिया की पूर्ति हो जायगी।

क्या हम लोगों के लिए जो स्थिति को जानते, समझते है, ऐसे चरित्र-नाशक वायु-मण्डल में बच्चे पैदा करना मुनासिब है? जब तक हम दीन-असहाय, रोगी और क्षुधा-पीड़ित हैं तब तक हम बच्चे पैदा करके केवल गुलामों और मरियलों की ही तादाद बढ़ायेंगे। भारत जब तक स्वाधीन और ऐसा राष्ट्र नहीं हो जाता, जो साधारण ही नहीं अकाल के समय भी अपना पेट भर लेने में समर्थ हो और जो मलेरिया, हैजा, इनफ्लुएंजा, और दूसरी अनेक बीमारियों से अपना बचाव करना

जानता हो, तब तक हमें बच्चे पैदा करने का हक नहीं है। इस देश में किसी के घर बच्चे पैदा होने की खबर सुनकर मेरे दिल में जो दुःख होता है उसे मैं पाठकों से छिपा नहीं सकता। स्वेच्छाकृत संयम के द्वारा सन्तानोत्पादन रोकने की संभावना पर मैंने बरसों विचार किया है और इस संभावना से मुझे सन्तोष हुआ है। हिन्दुस्तान आज अपनी मौजूदा आबादी का बोझ उठाने के काबिल भी नहीं है, इसलिए नहीं कि उसकी आबादी बहुत ज्यादा बढ़ गई है बल्कि इसलिए कि उसका गरदन ऐसे विदेशी राज के जुए के नीचे है जिसने उसके जीवन-रस को अधिकाधिक चूसते जाना ही अपना धर्म मान रखा है।

सन्तानोत्पादन किस तरह रोका जा सकता है? यह होगा यूरोप में काम में लाये जाने वाले नीति-नाशक बनावटी प्रतिबंधों से नहीं बल्कि नियमबद्ध जीवन और मन-इन्द्रियों को काबू में रखने के अभ्यास से। माँ-बाप का फर्ज है कि अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य-पालन की शिक्षा दें। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार लड़के का ब्याह कम-से-कम २५ साल की उम्र में होना चाहिए। अपने देश की माताओं से अगर हम यह मनवा सकें कि बालक-बालिकाओं को विवाहित जीवन के लिए तैयार करना पाप है तो इस देश में होने वाले आधे ब्याह अपने-आप बंद हो जायंगे। हमें इस वहम को भी दिल से निकाल देना चाहिए कि इस देश की गरम जलवायु के कारण लड़कियाँ जल्दी ऋतुमती हो जाती हैं। इससे बड़ा अंधविश्वास मैंने दूसरा नहीं देखा। मैं यह कहने को तैयार हूं कि जल्दी या देर से जवान होने पर जलवायु का कुछ भी असर नहीं होता। जो चीज हमारे बालक-बालिकाओं को वक्त से पहले जवान बना देती है वह है हमारे कौटुम्बिक जीवन के आस-पास रहने वाला मानसिक और नैतिक वातावरण। माताएं और घर की दूसरी स्त्रियां अबोध बच्चों को यह सिखा देना अपना धर्म समझती हैं कि इतने बरस के होने पर तुम दूल्हा बनोगे या तुम्हें ससुराल जाना होगा। वे निरे बच्चे, बल्कि मां की गोद में, होते हैं तभी उनकी सगाई कर दी जाती है। उन्हें जो

खाना खिलाया और कपड़े पहनाये जाते हैं वे भी वासनाओं को जगाने में सहायक होते हैं। हम उन्हें गुड़ियों की तरह सजाते हैं, उनके नहीं बल्कि अपने सुख के लिए और अपना बड़प्पन दिखाने के लिए। मैं बीसों लड़कों का पालन-पोषण कर चुका हूं। उन्हें जो कपड़े भी दिये गए उन्होंने बिना किसी कठिनाई के पहन लिये और उन्हीं से खुश रहे। हम उन्हें हर तरह की गर्म और उत्तेजना पैदा करने वाली चीजें भी खिलाते रहते हैं। हमारा अंधा प्रेम यह नहीं देखता कि वे क्या और कितना पचा सकते हैं। इन सबका परिणाम निश्चय ही यह होता है कि हम समय से पहले जवान होते समय से पहले माँ-बाप बनते और समय से पहले ही परलोक को पयान कर देते हैं। माँ-बाप अपने व्यवहार से जो वस्तु-पाठ बच्चों के सामने रखते हैं उसे वे आसानी से सीख लेते हैं। अपनी वासनाओं की लगाम ढीली छोड़कर वे अपने बच्चों के सामने संयम-रहित भोग का नमूना बनाते हैं। हर नये बच्चे के जन्म पर उछाव-बधाव होता है। अचरज की बात तो यह है कि ऐसे वातावरण में रह-कर भी हम और अधिक असंयमी नहीं हुए।

मुझे इस बात में लेश-मात्र भी शंका नहीं कि हमारे देश के स्त्री-पुरुष सभी देश का भला चाहते हैं और यह चाहते हैं कि हिन्दुस्तान सबल सुन्दर और सुगठित शरीर वाले स्त्री-पुरुषों का राष्ट्र बने तो उन्हें पूर्ण सयम का पालन करना और फिलहाल तो बच्चे पैदा करना बंद कर ही देना चाहिए। मैं नवविवाहित पति-पत्नियों को भी यही सलाह देता हूं। कोई काम करके छोड़ देने से उसे बिलकुल ही न करना आसान होता है। वैसे ही जैसे एक पियक्कड़ या थोड़ी शराब पीने वाले के लिए उसका त्याग कठिन और जिसने कभी उसे मुंह न लगाया हो उसके लिए आजन्म उससे दूर रहना आसान होता है। गिरकर उठने से सीधा खड़ा रहना हजार दरजे आसान होता है। यह कहना गलत है कि संयम के उपदेश के अधिकारी केवल वही हैं जिनकी वासनाएं परितृप्त हो चुकी हैं। वैसे ही जिसका तन-मन

शिथिल हो गया है उसको भोग-त्याग का उपदेश देने का कोई अर्थ नहीं। मेरा कहना तो यह है कि चाहे हम जवान हों या बूढ़े, भोग से अघा चुके हों या न अघाये हों, तत्काल हम पर फर्ज है कि अपनी गुलामी के उत्तराधिकारी पैदा करना बंद करदें।

देश के दम्पतियों को मैं यह भी बता देना चाहता हूं कि वे साथी के हक की दलील के भुलावे में न पड़ें। रजामंदी भोग के लिए दरकार होती हैं, संयम के लिए नहीं। यह बिलकुल खुला सत्य है।

हम एक शक्तिशाली सरकार के साथ जीवन-मरण के संग्राम में संलग्न हैं उसमें हमें अपना सारा शारीरिक भौतिक नैतिक और आध्यात्मिक बल लगाना होगा। यह बल हमे तबतक मिल नही सकता जबतक कि हम उस चीज को बहुत किफायत से न खर्च करें, जो हमारे लिए सबसे ज्यादा कीमती होनी चाहिए। हमारे व्यक्तिगत जीवन मे यह पवित्रता न आई तो हम सदा गुलामों का राष्ट्र बने रहेंगे। हम यह सोचकर अपने-आपको धोखा न दें कि चूंकि अंग्रेजों की शासन-पद्धति को हम पापमय मानते हे इसलिए वैयक्तिक सद्गुण सदाचार मे भी हमें उनको अपने से हीन तिरस्करणीय समझना चाहिए। चरित्र के मूलभूत सद्गुणों को वे आध्यात्मिक साधना का नाम देकर उनका ढिंढोरा नहीं पीटते पर कम-से-कम शरीर से तो वे उनका भरपूर पालन करते हैं। अपने देश के राजनीतिक कार्यों में लगे हुए अंग्रेजों में जितने ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियां है उतने हमारे यहां नही हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत लेने वाली स्त्रियां तो हममें एक तरह से हैं ही नहीं। थोड़ी-सी जोगिनें-बैरागिनें अवश्य हैं पर देश के जीवन पर उनका कोई असर नहीं। यूरोप में हजारों स्त्रियां एक साधारण सदाचार की भांति ब्रह्मचर्य का जीवन बिताती हैं।

अब में पाठकों के सामने थोड़े से सीधे-सादे नियम रखता हूं जो अकेले मेरे ही नहीं मेरे अनेक साथियों के भी अनुभव के आधार पर बनाये गए हैं।

१. लड़के-लड़कियों का पालन-पोषण सरल और प्राकृतिक ढंग से तथा मन में इस बात का पक्का विश्वास रखकर करना चाहिए कि वे निष्पाप है और सदा बने रह सकते हैं।

२. मिर्च-मसाले जैसी गरमी और उत्तेजना पैदा करने वाले और मिठाइयां, तली, भुनी चीजों, जैसे पाचन में भारा पड़ने वाले पदार्थों से परहेज करना चाहिए।

३. पति और पत्नी को अलग-अलग कमरों में रहना और एकान्त से बचना चाहिए।

४. देह और मन दोनों को सदा अच्छे, स्वास्थ्य-जनक कामों, विचारों में लगाये रखना चाहिए।

५. जल्दी सोने और जल्दी उठने के नियम का कड़ाई के साथ पालन किया जाय।

६. हर तरह के गन्दे साहित्य से परहेज किया जाय। मलिन विचारों का इलाज पवित्र विचार है।

७. वासनाओं को जगाने वाले थियेटर, सिनेमा और नाच-तमाशों से बचना चाहिए।

८. स्वप्न-दोष से घबराने की जरूरत नहीं; तन्दुरुस्त आदमी के लिए उसके बाद ठंडे जल से नहा लेना इस रोग का अच्छा-से-अच्छा इलाज है। यह कहना गलत है कि कभी-कभी संभोग कर लेने से स्वप्न में वीर्य-पात बंद हो जाता है।

९. सबसे बड़ी बात यह है कि पति-पत्नी के बीच भी ब्रह्मचर्य का पालन असाध्य या अति कठिन न माना जाय; उल्टा संयम को जीवन की साधारण और स्वाभाविक स्थिति मानना चाहिए।

१०. प्रतिदिन पवित्रता के लिए सच्चे दिल से प्रभु से प्रार्थना की जाय तो आदमी दिन-दिन अधिकाधिक पवित्र होता जायगा।

: ३ :

ब्रह्मचर्य

इस विषय पर कुछ लिखना आसान नहीं है। पर इस विषय में मेरा अपना अनुभव इतना विशाल है कि उसकी कुछ बूंदें पाठकों के सामने रखने की इच्छा सदा बनी रहती है। मुझे मिली हुई कुछ चिट्ठियों ने इस इच्छा को और भी बढ़ा दिया है।

एक भाई पूछते हैं--"ब्रह्मचर्य के मानी क्या हैं ? क्या उसका पूर्ण पालन शक्य है ? और है तो क्या आप उसका पालन करते हैं ?

ब्रह्मचर्य का पूरा और--सच्चा अर्थ है ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सबमें बसता है इसलिए यह खोज अन्तर्ध्यान और उससे उपजने वाले अन्तर्ज्ञान के सहारे होती है। अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के संपूर्ण संयम के बिना अशक्य है। अतः मन, वाणी और काया से संपूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का संपूर्ण पालन करने वाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है। अतः ऐसे स्त्री-पुरुष ईश्वर के पास रहते हैं। वे ईश्वर तुल्य होते हैं।

ऐसा ब्रह्मचर्य कायमनोवाक्य से अखण्ड पालन हो सकने वाली बात है, इस विषय में मुझे तिल-भर भी शंका नहीं; पर मुझे कहते दुःख होता है कि इस संपूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुंच सका हूं। पहुंचने का प्रयत्न सदा चल रहा है। और इस देह में ही वह स्थिति प्राप्त कर लेने की आशा भी मैंने नहीं छोड़ी है। काया पर मैंने काबू पा लिया है, जाग्रत अवस्था में मैं सावधान रह सकता हूं। वाणी के संयम का यथायोग्य पालन करना भी सीख लिया है। पर विचारों पर अभी बहुत काबू पाना बाकी है। जिस समय जो बात सोचनी हो उस क्षण वही बात मन में रहनी चाहिए। पर ऐसा न

होकर और बातें भी मन में आ जाती हैं इससे विचारों का द्वन्द्व मचा ही रहता है।

फिर भी जाग्रत अवस्था में मैं विचारों का एक-दूसरे से टकराना रोक सकता हूं। मैं उस स्थिति को पहुंचा हुआ माना जा सकता हूं जब गन्दे विचार मन में आ ही न सकें। पर निद्रावस्था में विचार के ऊपर मेरा काबू कम रहता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार मन में आते हैं, अनसोचे सपने भी दिखाई देते हैं। कभी-कभी इसी देह से की हुई बातों की वासना भी जग उठती है। ये विचार अगर गन्दे हों तो स्वप्न-दोष होता है। यह स्थिति विकारयुक्त जीवन की ही हो सकती है।

मेरे विचारों के विकार क्षीण होते जा रहे हैं। पर अभी उनका नाश नहीं हो पाया है। अपने विचारों पर मैं पूरा काबू पा सका होता तो पिछले दस बरस के बीच जो तीन कठिन बीमारियां मुझे हुईं, फेफड़े की झिल्ली का शोथ (प्लूरिसी), अतिसार, और आँत का फोड़ा (अपेंडिसाइटिस), वे न हुई होतीं। मैं मानता हूं कि निरोग आत्मा का शरीर भी निरोग ही होता है। अर्थात् ज्यों-ज्यों आत्मा निरोग–निर्विकार होती जाती है त्यों-त्यों शरीर भी निरोग होता जाता है। पर निरोग शरीर के मानी बलवान शरीर नहीं होते। बलवान आत्मा क्षीण देह में ही बसती है। आत्म-बल ज्यों-ज्यों बढ़ता है, शरीर त्यों-त्यों क्षीण होता जाता है। पूर्णतया निरोग शरीर भी बहुत दुबला-पतला हो सकता है। बल-वान शरीर में अक्सर रोग तो रहता ही है। ऐसा न भी हो तो वैसे शरीर के रोगों की छूत तुरन्त लग जाती है। पर, पूरी तरह निरोग देह को छूत लग ही नहीं सकती। शुद्ध रक्त में ऐसे कीड़ों को दूर रखने का गुण होता है।

यह अद्भुत दशा तो दुर्लभ ही है। नहीं तो मैं अब तक उसको पहुंच चुका होता, क्योंकि मेरी आत्मा गवाही देती है कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो उपाय करने चाहिएं उनके करने में मैं पीछे रहने वाला नहीं हूं। ऐसी एक भी बाहरी वस्तु नहीं है जो मुझे उससे

दूर रखने में समर्थ हो। पर पिछले संस्कारों को धो डालना सबके लिए सहज नहीं होता। इस तरह लक्ष्य तक पहुंचने में देर लग रही है, पर इससे मैंने तनिक भी हिम्मत नहीं हारी है। कारण यह है निर्विकार दशा की कल्पना में कर सकता हूं। उसकी धुंधली झलक भी जब-तब पा जाता हूं। और इस रास्ते में मैं अब तक जितना आगे बढ़ सकता हूं वह मुझे निराश करने के बदले आशावान ही बनाता है। फिर भी अगर मेरी आशा फलीभूत हुए बिना मेरा शरीर-पात हो जाय तो मैं यह न मानूंगा कि मैं विफल हो गया। मुझे जितना विश्वास अपनी इस देह के अस्तित्व का है उतना ही दूसरी देह मिलने का भी है। इसलिए जानता हूं कि छोटे-से-छोटा प्रयत्न भी व्यर्थ नहीं जाता।

स्वानुभव की इस चर्चा की गरज इतनी ही है कि जिन लोगों ने मुझे पत्र लिखे हैं उनके और उन जैसे दूसरे भाइयों के मन में धीरज रहे और आत्म-विश्वास उत्पन्न हो। सबकी आत्मा एक ही है। सब की आत्मा की शक्ति भी समान है। अन्तर इतना ही है कि कुछ की शक्ति प्रकट हो चुकी है, दूसरों की शक्ति का प्रकट होना अभी बाकी है। प्रयत्न करने से उन्हें भी वही अनुभव होगा।

अब तक मैंने व्यापक अर्थ वाले ब्रह्मचर्य की बात कही है। ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो मन, वचन और काया से—विषयेन्द्रिय का संयम-मात्र माना जाता है। यह अर्थ सही है क्योंकि इस संयम का पालन बहुत कठिन माना गया है। स्वादेन्द्रिय के संयम पर इतना ही जोर नहीं दिया गया। इससे विषयेन्द्रिय का संयम अधिक कठिन हो गया है—लगभग अशक्य हो गया है। इसके सिवा वैद्यों का अनुभव है कि जो शरीर रोग से अशक्त हो गया है उसमें विषय-वासना अधिक उद्दीप्त रहती है। इससे भी इस रोगग्रस्त राष्ट्र को ब्रह्मचर्य का पालन कठिन लगता है।

मैंने ऊपर दुबले, पर निरोग शरीर की बात कही है। इसका अर्थ कोई यह न लगाये कि हमें शरीर-बल बढ़ाने का यत्न ही न करना चाहिए। मैंने तो सूक्ष्मतम ब्रह्मचर्य की बात अपनी अति प्राकृत भाषा में लिखी

है। उससे कुछ गलतफहमी हो सकती है। जिसे सब इंद्रियों के संपूर्ण संयम का पालन करना है उसे अन्त में शरीर की क्षीणता का अभिनन्दन करना ही होगा। शरीर का मोह और ममता जब क्षीण हो जायगी तब शरीर-बल की इच्छा ही न रहेगी।

पर विषयेन्द्रिय को जीतने वाले ब्रह्मचारी का शरीर अति तेजस्वी और बलवान होना ही चाहिए। यह ब्रह्मचर्य भी अलौकिक वस्तु है। जिसकी विषय-वासना स्वप्न में भी नहीं जागती वह जगद्वंद्य है। उसके लिए दूसरे सब संयम सहज है, इसमें तनिक भी शंका नहीं।

इसी विषय को लेकर एक दूसरे भाई लिखते हैं—

"मेरी दशा दयनीय है। दफ्तर में, रास्ते में, रात में, पढ़ते समय, काम करते हुए, और ईश्वर का नाम लेते समय भी वही विचार मन में आते रहते हैं। विचारों को किस तरह काबू में रखू ? स्त्री-मात्र के प्रति मातृ-भाव कैसे पैदा हो ? आंखों से शुद्ध वात्सल्य की किरणें किस तरह निकलें ? दूषित विचारों का जड़ कैसे उखडे ? ब्रह्मचर्य विषय पर आपका लेख अपने पास रख छोड़ा है। पर इस जगह मुझे उससे जरा भी मदद नहीं मिल रही है।"

यह स्थिति हृदय-द्रावक है। यही स्थिति बहुतों की होती है। पर जब तक मन उन विचारों से लड़ता रहे तब तक डरने का कोई कारण नहीं। आखें दोष करती हों तो उन्हें बंद कर लेना चाहिए। कान, दोष करें तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। आखों को सदा नीची रखकर चलने की रीति अच्छी है। इससे उन्हें और कुछ देखने का अवकाश ही नहीं रहता। जहां गंदी बातें होती हों या गन्दे गीत गाये जा रहे हों वहां से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए। जीभ पर पूरा काबू हासिल करना चाहिए।

मेरा अपना अनुभव तो यह है कि जिसने जीभ को नहीं जीता वह विषय-वासना को नहीं जीत सकता। जीभ को जीतना बहुत ही कठिन है। पर इस विजय के साथ ही दूसरी विजय मिलती है। जीभ को जीतने का एक उपाय तो यह है कि मिर्च-मसाले का बिलकुल या जितना

हो सके त्याग कर दिया जाय। दूसरा उससे अधिक बलवान उपाय यह है कि मन में सदा यह भाव रखें कि हम केवल शरीर के पोषण के लिए ही खाते हैं, स्वाद के लिए कभी नहीं खाते। हम हवा स्वाद के लिए नहीं पीते, बल्कि सांस लेने के लिए पीते हैं। यानी जैसे महज प्यास बुझाने के लिए पीते हैं वैसे ही अन्न केवल भूख मिटाने के लिए खाना चाहिए। हमारे मां-बाप बचपन से ही हमें इसकी उल्टी आदत लगाते हैं; हमारे पोषण के लिए नहीं बल्कि अपना प्यार दिखाने के लिए हमें तरह-तरह के स्वाद चखाकर हमें बिगाड़ते हैं। इस वातावरण का हमें सामना करना होगा।

पर विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा कोई और मंत्र है। द्वादशाक्षर मंत्र भी इस काम के लिए अच्छा है जिसकी जैसी भावना हो वैसे ही मंत्र का जप वह करे। मुझे बचपन से रामनाम जपना सिखाया गया था और उसका सहारा मुझे मिलता ही रहता है, इसलिए मैंने उसे सुझाया है। हम जो मंत्र अपने लिए चुनें उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए। जप करते समय भले ही हमारे मन में दूसरे विचार आया करते हों फिर भी जो श्रद्धा रखकर मंत्र का जप करता ही जायगा उसे अन्त में विघ्नों पर विजय मिलेगी। इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि यह मंत्र उसका जीवन-डोर बनेगा और उसे सभी संकटों से उबारेगा ऐसे पवित्र मंत्र का उपयोग किसी को आर्थिक लाभ के लिए कदापि न करना चाहिए। इन मंत्रों का चमत्कार हमारी नीति की रक्षा करने में है और ऐसा अनुभव हरएक प्रयत्न करने वाले को थोड़े ही दिनों में हो जायगा। हां इतना याद रहे कि यह मंत्र तोते की तरह न रटा जाय। उसमें अपने आत्मा को पिरो देना चाहिए। तोता यंत्र की तरह मंत्र को रटता रहता है। हमें उसे ज्ञानपूर्वक जपना चाहिए अवांछित विचारों के निवारण की भावना और मंत्र में इसकी शक्ति है यह विश्वास रखकर।

: ४ :

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

मुझसे ब्रह्मचर्य के विषय पर कुछ कहने को कहा गया है। कुछ विषय ऐसे है जिन पर प्रसंग आने पर नवजीवन में, मैं कुछ लिखा तो करता हूं पर भाषणों में उनकी चर्चा शायद ही करता हूं, इसलिए मैं जानता हूं कि ये बातें कहकर नहीं समझाई जा सकतीं और अति कठिन हैं। ब्रह्मचर्य भी वैसा ही विषय है। आप तो जिस ब्रह्मचर्य के बारे में मुझसे कुछ सुनना चाहते हैं वह सामान्य ब्रह्मचर्य है, जिस ब्रह्मचर्य की विस्तृत व्याख्या सब इन्द्रियों का संयम है उसके विषय में नहीं। पर यह सामान्य ब्रह्मचर्य भी शास्त्रों में अतिशय कठिन बताया गया है। यह कथन ९९ प्रतिशत सत्य है, सिर्फ एक फी सदी की कमी रह गई है। ब्रह्मचर्य का पालन इसलिए कठिन लगता है कि हम उसके साथ-साथ दूसरी इन्द्रियों का संयम नहीं करते। इन दूसरी इन्द्रियों में मुख्य जीभ है। जो जीभ को बस में रखेगा ब्रह्मचर्य उसके लिए आसान-से-आसान चीज़ हो जायगा।

प्राणि-शास्त्र का अध्ययन करने वाले कहते हैं कि पशु ब्रह्मचर्य का जितना पालन करता है मनुष्य उतना नहीं करता और यह सच है। हम इसके कारण की खोज करें तो देखेंगे कि पशु अपनी जीभ पर पूरा-पूरा काबू रखता है, इरादा और कोशिश करके नहीं बल्कि स्वभाव से ही। वह केवल घास-चारे पर गुजर करता है और वह भी इतना ही कि पेट भर जाय। वह जीने के लिए खाता है, खाने के लिए जीता नहीं। पर हमारा रास्ता तो इसका उलटा ही है, मां बच्चे को तरह-तरह के स्वाद चखाती है। वह मानती है कि अधिक-से-अधिक चीजें खिलाना ही उसे प्यार करने का तरीका है। ऐसा करके हम चीज़ों का ज़ायका

बढ़ाते नही बल्कि घटाते हैं। स्वाद तो भूख में रहता है। भूख वाले को सूखी रोटी में जो स्वाद मिलता है वह बिना भूख वाले को लड्डू में नहीं मिलता। हम तो पेट को ठूँस-ठूँस कर भरने के लिए तरह-तरह के मसाले काम मे लाते और विविध व्यंजन बनाते है। फिर भी कहते है कि ब्रह्मचर्य चलता नही।

जो आंखे ईश्वर ने हमें देखने के लिए दी हैं उन्हें हम मलिन करते है और जो देखने की चीजें हैं उन्हें देखना नहीं सीखते। माता क्यों गायत्री न सीखे और बच्चे को न सिखाये। उसके गहरे अर्थ मे पैठना उसके लिए जरूरी नही। उसका तत्त्व सूर्य की उपासना है। इतना ही समझकर वह बच्चे से सूर्य की उपासना कराये तो काफी है। सूर्य की उपासना तो सनातनी, आर्य-समाजी सभी करते है। सूर्य की उपासना तो उस महा मंत्र का स्थूलतम अर्थ है। यह उपासना क्या है? यही कि हम सिर ऊचा रखकर सूर्यनारायण के दर्शन और उससे अपनी आंखों की शुद्धि करे। गायत्री मंत्र के रचयिता ऋषि थे। द्रष्टा थे। उन्होंने हमें बताया है कि सूर्योदय में जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है उसके दर्शन हमें और कहीं नहीं होने के। ईश्वर जैसा कुशल सूत्रधार दूसरा नहीं मिल सकता और न आकाश से अच्छी दूसरी रंगशाला मिल सकती है पर कौन माता बच्चे की आंखें धोकर उसे आकाश के दर्शन करती है? माता के भावों में तो अनेक प्रपच ही रहते है। बड़े घरों मे जो शिक्षा मिलती है उसके फलस्वरूप लड़का शायद बड़ा अफसर हो जाय। पर घर में जाने-बेजाने बच्चे को जो शिक्षा मिलती है उसमें से कितना वह ग्रहण कर लेता है इसका विचार कौन करता है?

मां-बाप हमारे शरीर को ढकते हैं। कपड़ों से हमें लाद देते हैं, हमे सजाते, संवारते हैं; पर इससे कहीं हम अधिक सुंदर बन सकते है। कपड़े बदन को ढकने के लिए हैं, उसे सरदी-गरमी से बचाने के लिए हैं, उसे सजाने के लिए नहीं। बच्चा सरदी से ठिठुर रहा है तो हमें चाहिए कि उसे अंगाठी के पास ढकेल दे, मैदान में दण्ड लगाने के लिए छोड़ दें

या खेत में काम करने को भेज दें। तभी उसकी देह लोहे की लाट बनेगी। ब्रह्मचर्य के पालन से तो वह वज्र जैसी हो ही जानी चाहिए। हम तो उसके शरीर का नाश कर डालते है। घर में बंद रखकर जो गरमी हम उसे पहुंचाना चाहते हैं उससे तो उसकी त्वचा में ऐसी गरमी पैदा होती है जिसकी उपमा खुजली से ही दी जा सकती है। अपने शरीर को बहुत लाड़-प्यार कर हम उसे बिगाड़ डालते हैं।

यह तो हुई कपड़ों की बात । घर में होने वाली बातचीत से भी हम बच्चे के मन पर बुरा असर डालते हैं। उसके ब्याह की बातें किया करते हैं। जो चीजें उसे देखने को मिलती हैं उनमें भी बहुतेरी ऐसा ही असर डालने वाली होती हैं। मुझे तो अचरज इस बात का होता है कि यह सब होते हुए भी हम दुनिया में सबसे बड़े जंगली क्यों न होगए ? मर्यादा के टूटने में सहायक होने वाली इतनी बातों के होते हुए भी वह ज्यों-त्यों निबाही जा रही है। ईश्वर ने मनुष्य को कुछ ऐसा बनाया है कि बिगड़ने के लिए अनेक अवसर आते रहने पर भी वह बच जाता है। यह ईश्वर की अलौकिक कला है। ब्रह्मचर्य के रास्ते के ये विघ्न हम दूर कर दें तो उसका पालन शक्य ही नही बल्कि आसान हो जाता है।

इस दशा में भी हम शरीर-बल में दुनिया का मुकाबला करने की इच्छा रखते है। इसके दो रास्ते है—आसुरी और दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर-बल बढ़ाने के लिए चाहे जैसे उपाय करना, चाहे जैसे पदार्थों का सेवन करना, शारीरिक प्रतियोगिता करना, गो-मांस खाना इत्यादि। मेरा एक दोस्त बचपन में मुझसे कहा करता था कि हमें मांस खाना ही होगा नहीं तो हम अंग्रेज़ों के जैसे तगड़े न हो सकेंगे। गुजराती के प्रसिद्ध कवि नर्मदाशंकर ने भी अपनी एक कविता में ऐसी ही सलाह दी है। जापान को भी जब दूसरे देशों का मुकाबला करना पड़ा तब गो-मांस उसके आहार में शामिल हो गया। यों आसुरी-रीति से हमें देह बनानी हो तो ऐसे पदार्थों का सेवन करना ही होगा।

पर दैवी रीति से शरीर का विकास करना हो तो ब्रह्मचर्य उसका

एक-मात्र उपाय है, मुझे जब कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं तब मुझे अपने-आप पर दया आती है। यहां मुझे जो मान-पत्र दिया गया है उसमें मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया हूं। मुझे कहना होगा कि जिसने मान-पत्र लिखा है उसे यह मालूम नहीं कि ब्रह्मचर्य कहते किसे हैं और उसे इसका भी खयाल नहीं कि मुझ जैसा आदमी, जो विवाहित और बाल-बच्चों वाला है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे हो सकता है? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को तो न कभी बुखार आता है न कभी सिर-दर्द होता है, न कभी खांसी सताती है और न कभी अपेंडिसाइटिस (आंत का फोड़ा) होता है। डाक्टर कहते हैं कि आंतों में नारंगी के बीज रह जाने से भी अपेंडिसाइटिस होता है। पर जिसका शरीर स्वस्थ और निरोग है उसकी आंतों में बीज अटक ही नहीं सकते। जब आंतें शिथिल हो जाती हैं तभी इन चीजों के अपने बल से बाहर नहीं निकाल सकती। मेरी आंतें भी शिथिल हो गई होंगी इसी से मैं ऐसी कोई चीज न पचा सका हूंगा। बच्चे क्या-क्या चीजें खा जाते हैं माता इसका ध्यान कहां रख सकती है; पर उनकी आंतों में उन्हें पचा लेने की स्वाभाविक शक्ति होती है।

इसलिए मैं चाहता हूं कि मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोप करके कोई मिथ्याचारी न बने। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझमें जितना है उससे सौ गुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं हूं। हां होने की इच्छा अवश्य है। मैंने तो अपने अनुभव की कुछ बूंदें आपके सामने रखी हैं जो ब्रह्मचर्य की मर्यादा बताती हैं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ यह नहीं है कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी बहन का भी, स्पर्श न करूं। ब्रह्मचारी होने का अर्थ यह है कि जैसे कागज को छूने से मेरे मन में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता वैसे ही स्त्री का स्पर्श करने से भी नहीं। मेरी बहन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण मुझे उसकी सेवा करने से हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं। मुर्दे को छूकर हम जिस अविकार दशा का अनुभव कर सकते हैं उसी अविकार दशा का अनुभव जब किसी परम सुन्दरी युवती को छूकर भी

कर सकें तभी हम सच्चे ब्रह्मचारी हैं। अगर आप यह चाहते हैं कि आपके लड़के ऐसे ब्रह्मचर्य को प्राप्त करें तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते। पर कोई ब्रह्मचारी ही—चाहे वह मुझ जैसा अधूरा ही क्यों न हो–उसे बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक संन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम संन्यास से अधिक ऊंचा आश्रम है। पर हमने उसे गिरा दिया है, इसी से हमारा गृहस्थाश्रम बिगड़ा और वानप्रस्थ आश्रम भी बिगड़ा और संन्यास का तो नाम भी नहीं रहा। आज हमारी दशा ऐसी दीन है।

जो आसुरी मार्ग ऊपर हमने बताया है उसका अनुसरण करके तो पांच सौ साल में भी हम पठानों का मुकाबला न कर सकेंगे। हाँ दैवी मार्ग का अनुसरण किया जाय तो आज ही उनका मुकाबला किया जा सकता है। कारण यह कि दैवी मार्ग के लिए आवश्यक मानसिक परिवर्तन क्षण भर में हो सकता है। पर शरीर के बदलने में युग लग जाते हैं। इस दैवी मार्ग का अनुसरण हम तभी कर सकेंगे जब हमारे पास पूर्व जन्म का पुण्य-बल होगा और हमारे मां-बाप हमारे लिए जरूरी साधन जुटा देंगे।

: ५ :

सत्य बनाम ब्रह्मचर्य

एक मित्र श्री महादेव देसाई को लिखते हैं :—

"आपको याद होगा कि कुछ दिन पहले 'नवजीवन' में ब्रह्मचर्य विषय पर एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका आपने 'यंग इंडिया' में उलथा किया। उस लेख में गांधीजी ने स्वीकार किया है कि उन्हें अब भी जब-तब स्वप्न-दोष हो जाया करता है। उसे पढ़ते ही मेरे दिल में यह बात आई कि ऐसे इकबालों का असर अच्छा नहीं हो सकता। पीछे मुझे मालूम हुआ कि मेरी शंका निराधार न थी।

"विलायत में प्रवास के समय प्रलोभनों के रहते मैंने और मेरे मित्रों ने अपने चरित्र पर धब्बा नहीं आने दिया। हम माँस, मद्य और स्त्री से बिलकुल दूर रहे। पर गांधीजी का लेख पढ़ने के बाद एक मित्र ने हिम्मत हार दी और मुझसे कहा-'ऐसे भगीरथ प्रयास के बाद भी जब गांधीजी का यह हाल है तो हमारी क्या बिसात? ब्रह्मचर्य-पालन की कोशिश करना बेकार है। गांधीजी की स्वीकारोक्ति ने मेरी दृष्टि बिलकुल ही बदल दी। आज से मुझे डूबा समझो।' थोड़ी हिचक के साथ मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की। वही दलील उनके सामने रखी जो आप या गांधीजी देते, 'अगर यह रास्ता गांधीजी जैसे पुरुषों के लिए भी इतना कठिन है तो हम जैसों के लिए तो कहीं ज्यादा कठिन होना चाहिए। इसलिए हमें दुगनी कोशिश करनी चाहिए।' पर सारी दलील बेकार गई। जिस चरित्र पर अबतक कलुष का छींटा भी न पड़ा था वह कीचड़ से सन गया। अगर कोई आदमी गांधीजी को उनके इस पतन के लिए जिम्मेदार ठहराये तो वह या आप उसे क्या जवाब देंगे?

"जबतक मेरे सामने ऐसा एक ही उदाहरण था तबतक मैंने आपको

नहीं लिखा। मुमकिन है, आप यह कहकर मुझे टाल देते कि यह दृष्टान्त तो अपवाद रूप है। पर इधर मुझे इस तरह के और भी उदाहरण मिले हैं और मेरी आशंका सर्वथा साधार सिद्ध हुई है।

"मैं जानता हूं, कुछ बातें ऐसी हैं जो गांधीजी के लिए तो बहुत आसान हैं, मगर मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन हैं। पर ईश्वर के अनुग्रह से मैं यह भी कह सकता हूं कि कुछ बातें जो गांधीजी के लिए भी अशक्य हों मेरे लिए शक्य हो सकती हैं। इस ज्ञान या गर्व ने ही मुझे अबतक गिरने से बचाया है, नहीं तो गांधीजी के उक्त इकबाल ने मेरे खतरे से बाहर होने के विश्वास की जड़ पूरी तरह हिला दी है।

"क्या आप कृपा कर गांधीजी का ध्यान इस ओर खींचेंगे, खासकर जब वह अपनी आत्म-कथा लिखने में लग रहे हैं? सत्य और नग्न सत्य को कहना बेशक बहादुरी की बात है, पर दुनिया और 'नवजीवन' तथा 'यंगइंडिया' के पाठक इससे उनके बारे में गलत राय कायम करेंगे। मुझे डर है कि एक के लिए जो अमृत है वह दूसरे के लिए विष न हो जाय।"

यह शिकायत पाकर मुझे अचरज नहीं हुआ। असहयोग आन्दोलन जब पूरे जोर पर था और उसके दरमियान जब मैंने अपने से 'समझ की एक भूल' हो जाने की बात स्वीकार की तब एक मित्र ने निर्दोष भाव से मुझे लिखा—"अगर यह भूल थी तो आपको उसे कबूल नहीं करनी चाहिए थी। लोगों को यह मानने के लिए उत्साहित करना चाहिए कि दुनिया में कम-से-कम एक आदमी तो है जो भूल-भ्रम से परे है। लोग आपको एसा ही मानते थे। आपके भूल-स्वीकार से वे हिम्मत हार देंगे।" यह आलोचना पढ़कर मुझे हँसी आई और रोना भी। हँसी आई लिखने वाले के भोलेपन पर। पर लोगों को एक पतनशील प्राणी के भूल-भ्रम से परे होने का विश्वास दिलाया जाय, यह विचार ही मेरे लिए असह्य था। जो आदमी जैसा है उसे वैसा जानने में सदा सबका हित है इससे कभी कोई हानि नहीं होती। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे झट अपनी

भूलें स्वीकार कर लेने से लोगों का हर तरह हित ही हुआ है। कम-से-कम मेरा तो इससे उपकार ही हुआ है।

यही बात मैं बुरे सपनों का होना स्वीकार करने के बारे मे भी कह सकता हूं। पूर्ण ब्रह्मचारी न होते हुए भी मैं होने का दावा करूं तो इससे दुनिया की बड़ी हानि होगी। यह ब्रह्मचर्य की उज्ज्वलता को मलिन और सत्य के तेज को धूमिल कर देगा। झूठे दावे करके ब्रह्मचर्य का मूल्य घटाने का साहस मैं कैसे कर सकता हूं। आज मैं यह देख सकता हूं कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिए जो उपाय मैं बताता हूं वे काफी नहीं साबित होते, वे हर जगह कारगर नहीं होते, और केवल इसलिए कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हू। मैं दुनिया को ब्रह्मचर्य का सीधा रास्ता न दिखा सकू और वह मुझे पूर्ण ब्रह्मचारी माने, यह बात उसके लिए बड़ी भयानक होगी।

मैं सच्चा खोजी हूं, मैं पूर्ण जाग्रत हूं, मेरा प्रयत्न अथक और अडिग है—इतना ही जान लेना दुनिया के लिए क्यों काफी न हो? इतना ही जानना औरों को उत्साहित करने के लिए क्यों पर्याप्त न हो। झूठी प्रतिज्ञाओं से सिद्धांत स्थिर करना गलत है। सिद्धियों को उनका आधार बनाना ही बुद्धिमानी है। यह दलील क्यों दी जाय कि जब मुझ-जैसा आदमी मलिन विचारों से न बच सका तब औरों के लिए क्या आशा हो सकती है? उसके बजाय यह क्यों न सोचा जाय कि अगर गांधी, जो एक दिन काम-वासना का गुलाम था आज अपनी पत्नी का मित्र और भाई बनकर रह सकता है और सुन्दर-से-सुन्दर युवती को अपनी बहन या बेटी के रूप में देख सकता है तब अदने-से-अदना, और पाप के गढ़े में गिरा हुआ आदमी भी ऊपर उठने की आशा रख सकता है। ईश्वर अगर ऐसे कामुक-जन पर दया कर सकता है तो निश्चय ही दूसरे सब लोग भी उसकी दया के अधिकारी होंगे।

पत्र लिखनेवाले भाई के जो मित्र मेरी कमियों को जानकर पीछे हट गए वे कभी आगे बढ़े ही न थे। वह उनकी झूठी साधुता थी जो

पहले ही झोंके में उड़ गई। सत्य, ब्रह्मचर्य और दूसरे सनातन नियम मुझ-जैसे अधकचरे जनों की साधना पर आश्रित नहीं होते। वे तो उन बहुसंख्यक जनों की तपश्चर्या के अटल आधार पर खड़े होते हैं जिन्होंने उनकी साधना का यत्न किया और उनका संपूर्ण पालन कर रहे हैं। जब मुझमें उन पूर्ण पुरुषों की बगल मे खड़े होने की योग्यता आ जायगी तब मेरे शब्दों मे आगे से कहीं अधिक निश्चय और बल होगा। जिनके विचार इधर-उधर भटकते नहीं रहते, जिनका मन बुरी बातों को सोचता नहीं, जिनकी नींद सपनों से रहित होती है और जो सोते हुए भी पूरी तरह जागता रह सकता है वही सच्चे अर्थ में स्वस्थ है। उसे कुनैन खाने की जरूरत नहीं होती। उसके शुद्ध रक्त में हर तरह के छूत-विकार से लड़ लेने का बल होता है। तन-मन और आत्मा की पूर्ण स्वस्थ दशा की प्राप्ति का प्रयत्न मैं कर रहा हूं। पत्र-लेखक तथा उनके अल्प श्रद्धा वाले मित्रों और दूसरों को मेरा निमंत्रण है कि इस कोशिश में मेरा साथ द और मेरी कामना है कि पत्र-लेखक की ही तरह उनके कदम भी आगे बढ़ने में मुझसे ज्यादा तेज हों। मुझे जो कुछ भी सफलता मिली है वह मुझमें कमियों और जब-तब वासना के अधीन हो जाने की दुर्बलता के होते हुए मिली है और मिली है केवल मेरे अथक प्रयत्न और भगवान् की दया में मेरी असीम श्रद्धा की बदौलत।

अतः किसी के लिए भी निराश होने का कारण नही। महात्मा-पन कौड़ी काम का नहीं। यह तो मेरी बाह्य प्रवृत्तियों, मेरे राजनीतिक कामों का प्रसाद है, जो मेरे जीवन का सबसे छोटा अग है, फलतः चंद रोजा चीज है। जो वस्तु स्थायी मूल्य वाली है वह है मेरा सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य-आग्रह। यही मेरे जीवन का सच्चा अंग है मेरे जीवन का स्थायी अंग कितना ही छोटा क्यों न हो, वह हेय मानने की चीज नहीं है। वही मेरा सर्वस्व है। इस मार्ग में होने वाली विफलताएं और भूल-भ्रम का ज्ञान भी मेरे लिए मूल्यवान् है, क्योंकि वे सफलता के मंदिर पर पहुंचने की सीढ़ियां हैं।

: ६ :

ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय

ब्रह्मचर्य और उसके साधनों के विषय में मेरे पास पत्रों का ताँता लग रहा है। अतः दूसरे मौकों पर जो कुछ कह या लिख चुका हूं उसे ही दूसरे शब्दों में यहाँ दुहरा देता हूं। ब्रह्मचर्य का अर्थ शरीरिक संयम-मात्र नही है, बल्कि उसका अर्थ है संपूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन-कर्म से काम-वासना का त्याग। इस रूप में वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा रास्ता है।

आदर्श ब्रह्मचारी को भोग की वासना या सन्तान की कामना से जूझना नही पड़ता; वह कभी उसे कष्ट नही देती, उसके लिए सारा संसार एक विशाल परिवार होगा, मानव जाति के कष्ट दूर करना ही उसकी सारी महत्त्वाकांक्षा होगी और सन्तान की कामना उसके लिए विष-सी कड़वी होगी। मानव-जाति के दुःख-दैन्य का जिसे पूरा पता मिल गया है काम-वासना उसके चित्त को चलायमान कर ही नहीं सकती। अपने अंदर बहने वाले शक्ति-स्रोत का पता उसे अपने-आप लग जायगा और वह सदा उसे स्वच्छ, निर्मल बनाये रखने का यत्न करेगा। उसकी छोटी-सी शक्ति के सामने सारा संसार श्रद्धा से सिर झुकायेगा, और उसका प्रभाव राज-दण्डधारी सम्राट् के प्रभाव से बढ़ा-चढ़ा होगा।

पर मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श अशक्य है और 'तुम स्त्री-पुरुष में जो एक-दूसरे के प्रति सहज आकर्षण है उसका खयाल नहीं करते।' पर यहां जिस काम-प्रेरित आकर्षण की ओर संकेत है मैं उसे स्वाभाविक मानने से इनकार करता हूं। वह प्रकृति-प्रेरित हो तो

हमें जान लेना चाहिए कि प्रलय होने में अधिक देर नहीं है। स्त्री और पुरुष के बीच का सहज आकर्षण वह है जो भाई और बहन, माँ और बेटे, बाप और बेटी के बीच होता है। संसार इसी स्वाभाविक आकर्षण पर टिका है। मैं संपूर्ण नारी जाति को अपनी बहन, बेटी और माँ न मानूँ तो काम करना तो दूर रहे, मेरे लिए जीना भी कठिन हो जायगा। मैं उन्हें वासनाभरी दृष्टि से देखूँ तो यह नरक का सीधा रास्ता होगा।

सन्तानोत्पादन स्वाभाविक क्रिया अवश्य है, पर बँधी हद के भीतर ही। उस सीमा को लाँघना स्त्री-जाति के लिए खतरा पैदा करता, जाति का हत-वीर्य बनाता, बीमारियों को बुलाता, पाप को प्रोत्साहन देता और दुनिया को धर्म तथा ईश्वर से विमुख करता है। जो आदमी काम-वासना के बस में हमेशा है वह बिना लंगर की नाव है। ऐसा आदमी समाज का पथ-प्रदर्शक हो, अपने लेखों से उसे पाट रहा हो और लोग उनसे प्रभावित हो रहे हों तो फिर समाज का कहाँ ठिकाना लगेगा? फिर भी आज यही हो रहा है। मान लीजिए, दीपशिखा के गिर्द चक्कर काटने वाला पतिंगा अपने क्षणिक सुख का वर्णन करे और हम उसे आदर्श मान उसका अनुकरण करें, तो हमारी गति क्या होगी? नहीं मुझे अपनी सारी शक्ति के साथ कहना होगा कि काम का आकर्षण पति-पत्नी के बीच भी अस्वाभाविक है। विवाह का उद्देश्य पति-पत्नी के हृदय को हीन-वासनाओं से शुद्ध करके उन्हें भगवान् के निकट ले जाना है। पति-पत्नी के बीच भी कामना-रहित प्रेम होना नामुमकिन नहीं है। मनुष्य पशु नहीं है। पशुयोनि में अगणित जन्म लेने के बाद वह कहीं इस ऊँची दशा को पहुंच सका है। उसका जन्म तनकर खड़ा होने के लिए हुआ है, घुटनों के बल चलने या रेंगने के लिए नहीं। पशुता मनुष्यता से उतनी ही दूर है जितना चेतन से जड़।

अन्त में संक्षेप में ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय बताता हूं—

पहला काम है ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को समझ लेना।

दूसरा काम है इन्द्रियों को क्रमशः वश में लाना । ब्रह्मचारी को अपनी जीभ को तो बस में करना ही होगा । उसे जीने के लिए खाना चाहिए, रसना-सुख के लिए नहीं । आँख से वही चीजें देखनी चाहिएं जो शुद्ध, निष्पाप हों, गन्दी चीजों की ओर से उसे अपनी आँखे बन्द कर लेनी चाहिएं। निगाह नीची करके चलना—उसे इधर-उधर नचाते न रहना, शिष्ट संस्कारवान होने की पहचान है । इसी तरह ब्रह्मचारी को गन्दी अश्लील बातें सुनने और नाक से तीव्र, उत्तेजक गंध सूंघने से भी परहेज रखना होगा । साफ-सुथरी मिट्टी की सुगंध बनावटी इत्रों, एसंसों की खुशबू से कहीं मधुर होती है । ब्रह्मचर्य-पालन के अभिलाषी के लिए यह भी आवश्यक है कि जबतक वह जागता रहे अपने हाथ-पैरों को किसी-न-किसी अच्छे काम में लगाये रखे । वह कभी-कभी उपवास भी कर लिया करे ।

तीसरा काम है शुद्ध, स्वच्छ आचरण वालों का ही संग-साथ करना, उन्हींसे मित्रता जोड़ना और पवित्र पुस्तकें ही पढ़ना ।

आखिरी पर वैसे ही महत्त्व का काम है प्रार्थना । ब्रह्मचारी को नित्य नियमपूर्वक संपूर्ण अन्तःकरण से राम नाम का जप करना और भगवान् के प्रसाद की प्रार्थना करनी चाहिए ।

इनमे से एक भी बात ऐसी नहीं है जो साधारण स्त्री-पुरुष के लिए कठिन हों, वे अति सरल हैं । पर उनकी सरलता ही कठिनाई बनी रही है । जिसके दिल में चाह है उसके लिए राह निहायत आसान है । लोगां में ब्रह्मचर्य-पालन की सच्ची इच्छा नहीं होती, इसीसे वे बेकार भटका करते हैं । दुनिया ब्रह्मचर्य के कमो-बेश पालन पर ही टिक रही है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह आवश्यक और हो सकने वाला काम है ।

: ७ :

जनन-नियमन

बहुत झिझक और अनिच्छा के साथ में इस विषय पर कलम उठा रहा हू । में जब से दक्षिण अफ्रीका से लौटा तभी से मुझे कितने ही पत्र मिलते रहे हैं जिनमें जनन-नियमन के कृत्रिम साधनों से काम लेने के बारे में मेरी राय पूछी जाती है । उन पत्रों के उत्तर निजी तौर पर तो मैंने दे दिये हैं, पर सार्वजनिक रूप में अबतक इस विषय की चर्चा नहीं की थी । इस विषय ने आज से ३५ साल पहले, जब मैं विलायत मे पढता था अपनी ओर मेरा ध्यान खीचा था । उन दिनों वहां एक संयमवादी और एक डाक्टर के बीच गहरी बहस चल रही थी । संयमवादी प्राकृतिक उपायों इन्द्रिय-संयम के सिवा और किसी उपाय को जायज न मानता था और डाक्टर बनावटी साधनों का प्रबल समर्थक था । उस कच्ची उम्र में कृत्रिम उपायों की ओर थोड़े दिन झुकने के बाद मैं उनका कट्टर विरोधी होगया । अब मैं देखता हूं कि कुछ हिन्दी-पत्रों में इन उपायों का वर्णन इतने नग्न रूप में हो रहा है कि उसे देखकर हमारी शिष्टता की भावना को गहरा धक्का लगता है । मै यह भी देख रहा हूं कि एक लेखक को कृत्रिम उपायों के समर्थकों में मेरा नाम लेते हुए भी संकोच नही हो रहा है । मुझे एक भी अवसर याद नहीं आता जब मैने इन उपायों के समर्थन में कुछ कहा या लिखा हो । उनके समर्थकों में दो प्रतिष्ठित पुरुषों के नाम लिये जाते भी मैंने देखा है । पर उनकी इजाजत के बिना उनके नाम प्रकट करते मुझे हिचक होती है ।

जनन-नियमन की आवश्यकता के विषय में तो दो मत हो ही नहीं सकते । पर युगों से इसका एक ही उपाय हमें बताया गया है और वह

है इंद्रिय-निग्रह या ब्रह्मचर्य। यह अचूक, रामबाण उपाय है, जिससे काम लेने वाले की हर तरह भलाई होती है। चिकित्सा-शास्त्र के जानकार गर्भ-निरोध के अप्राकृतिक साधन ढूँढने के बदले अगर मन-इन्द्रियों को काबू में रखने के उपाय ढूँढें तो मानव जाति उनकी चिर-ऋणी होगी। स्त्री-पुरुष के समागम का उद्देश्य इन्द्रिय-सुख नहीं बल्कि सन्तानोत्पादन है। और जहाँ सन्तान की इच्छा न हो वहाँ संभोग पाप है।

बनावटी साधनों का उपयोग तो बुराइयों को बढ़ावा देना है। वे स्त्री और पुरुष को नतीजे की ओर से बिलकुल लापरवाह बना देते हैं। और इन उपायों को जो प्रतिष्ठा दी जा रही है उसका फल यह होगा कि लोकमत व्यक्ति पर अभी जो थोड़ा दाब-अंकुश रखता है वह जल्दी ही गायब हो जायगा। अप्राकृतिक उपायों से काम लेने का निश्चित परिणाम मानसिक दुर्बलता और नाड़ी-मण्डल का शिथिल हो जाना है। दवा मर्ज से महँगी पड़ेगी। अपने कर्म के फल से बचने की कोशिश नासमझी और पाप है। जरूरत से ज्यादा खा लेने वाले के लिए यही अच्छा है कि उसके पेट में दर्द हो और उसे उपवास करना पड़े। ठूँस-ठूँस कर खाना और फिर चूरन खाकर उसके स्वाभाविक फल से बच जाना उसके लिए बुरा है। काम-वासना की मनमानी तृप्ति करना और उसके नतीजों से बचना तो और भी बुरा है। प्रकृति के हृदय में दया माया नहीं है जो कोई उसके नियमों को तोड़ेगा उससे वह पूरा बदला लेगी। नीति-संगत फल तो नीति-संगत संयम से ही प्राप्त हो सकते हैं, और तरह के प्रतिबंध तो जिस बुराई से बचने के लिए लगाये जाते हैं उसको उलटा और बढ़ा देते हैं।

कृत्रिम उपायों के उपयोग के समर्थकों की बुनियादी दलील यह है कि संभोग जीवन की एक आवश्यकता है। इससे बड़ा भ्रम और कोई हो नहीं सकता। जो लोग चाहते हैं कि जितने बच्चों की हमें जरूरत है उससे ज्यादा बच्चे पैदा न हों, उन्हें चाहिए कि उन नीति-संगत उपायों की

खोज करें जो हमारे पूर्व पुरुषों ने ढूंढ निकाले थे, और उनका चलना फिर कैसे चल सकता है इसका उपाय मालूम करें । उनके सामने बहुत-सा प्रारंभिक कार्य करने को पड़ा है । बाल-विवाह जन-संख्या की वृद्धि का एक प्रधान कारण है। रहन-सहन का वर्तमान ढंग भी बच्चों की बेरोक बाढ़ में बहुत सहायक होता है । इन कारणों की खोज करके इन्हें दूर करने का उपाय किया जाय तो समाज सदाचार की एक-दो सीढ़ियाँ और चढ़ जायगा । और अगर जनन-निरोध के उत्साही समर्थकों ने उनकी उपेक्षा की, प्राकृतिक साधनों का चलन आम होगया, तो नतीजा नैतिक पतन के सिवा और कुछ नहीं हो सकता ।

जो समाज विविध कारणों से पहले बलवीर्य-रहित हो चुका है वह जन्म-निरोध के कृत्रिम उपायों को अपनाकर अपने-आपको और निर्बल ही बनायेगा । अतः जो लोग बिना सोचे-विचारे कृत्रिम साधनों से काम लेने का समर्थन कर रहे हैं उनके लिए इससे अच्छी बात दूसरी नहीं हो सकती कि इस विषय का नये सिरे से अध्ययन करें, अपने हानिकर प्रचार को रोकें और विवाहित-अविवाहित दोनों को ब्रह्मचर्य के रास्ते पर चलाने की कोशिश करें ।

: ८ :

कुछ दलीलों पर विचार

जनन-नियमन विषय पर मेरे लेख को पढ़कर बनावटी साधनों के समर्थको ने मेरे साथ जोरों से पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया है। मुझे इसी की आशा भी रखनी चाहिए थी। उनकी चिट्ठियों में से मैं तीन को, जो नमूने का काम दे सकती है, चुन लेता हूं। एक पत्र और भी देने लायक था, पर उसमें अधिकतर धर्म-शास्त्रों की दलीले दी गई हैं, इसलिए उसे छोड़े देता हूं। उन तीन पत्रों में से एक का उलथा यह है—

"जनन-नियमन विषय पर आपका लेख मैंने बड़ी रुचि के साथ पढ़ा। इन दिनों इस विषय ने बहुतेरे शिक्षित पुरुषों का ध्यान अपना ओर खींच रखा है। पिछले साल हम लोगों में इस विषय पर लम्बे और गरम मुबाहसे हुए। उनसे कम-से-कम इतना तो साबित हो गया कि युवक वर्ग को इस मसले से गहरी दिलचस्पी पैदा हो गई है, इसके बारे में लोगों में बहुत-सी गलत धारणाएं है और इसकी चर्चा में बनावटी शालीनता बहुत बरती जाती है, और इसकी बहस खुलकर की जाय तो वह सभ्यता की सीमा का उल्लघन क्वचित् ही करती है। आपका लेख पढ़कर मैं इस बारे में फिर से सोचने लगा हूं। मेरी प्रार्थना है कि आप इस विषय में मेरी थोड़ी और रहनुमाई करें, जिससे मेरे मन म उठने वाली बहुत-सी शंकाएं दूर हो जायं।

"मैं इस बात को मानता हूं कि 'सन्तति-नियमन की आवश्यकता के बारे मे दो मत नहीं हो सकते।' मैं यह भी मानता हूं कि ब्रह्मचर्य इसका अचूक और रामबाण उपाय है और जो उसे काम लाता है उसका भला ही

करता है । पर मैं जानना चाहता हूं कि क्या यह प्रश्न आत्म-संयम से अधिक जनन-निरोध का नहीं है ? अगर है तो हमें देखना चाहिए कि संयम या इंद्रिय-निग्रह साधारण मनुष्य के लिए सन्तति-नियमन का सुलभ मार्ग है ।

"मैं मानता हूं कि इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—व्यक्ति की दृष्टि से और समाज की दृष्टि से। हर आदमी का फर्ज है कि अपनी विषय-भोग की वासनाओं को दबाकर अपने आत्म-बल की वृद्धि करें। हर जमाने में थोड़े से ऐसे महान् पुरुष पैदा होते हैं जो यह उच्च आदर्श अपने सामने रखते और आजीवन केवल उसीका अनुगमन करते हैं। पर अनावश्यक बच्चों की बाढ़ रोकने के मसाले को, जिसे हल करने पर हम तुल रहे हैं, वे समझते हैं, इसमें मुझे शक है। सन्यासी मोक्ष-प्राप्ति का प्रयासी होता है, सन्तति-नियमन का नहीं।

"पर क्या यह उपाय उस आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रश्न को समय की उचित सीमा के अंदर हल कर सकता है जो जन-समाज के बहुत बड़े भाग के लिए अतिशय महत्त्व का है ? हर एक समझदार व आगे की बात सोच सकने वाले गृहस्थ के सामने यह समस्या आज भी रास्ता रोककर खड़ी है। एक आदमी कितने बच्चों को खिला, पहना, पढ़ा और उनकी रोजी-रोजगार का उपाय कर सकता है,—यह ऐसा प्रश्न है जिसे हमें तुरन्त हल करना होगा। मनुष्य-स्वभाव कैसा है यह आप जानते ही हैं। उसका खयाल रखते हुए क्या आप हजारों लाखों आदमियों से यह आशा रख सकते हैं कि सन्तान की आवश्यकता पूरी हो जाने के बाद वे संभोग का सुख लेना बिलकुल ही बंद कर देंगे ? मैं समझता हूं कि आप काम-वासना की बुद्धि-संगत, संयत तृप्ति की इजाजत देंगे, जैसी कि हमारे स्मृतिकारों की सलाह है। अधिकांश जनों से न तो अपनी वासना की लगाम बिलकुल ढीली कर देने को कहा जा सकता है, और न उसे पूरी तरह दबा देने को। उनसे तो बस यही कहा जा सकता है कि उसे नियम के अंदर रखे, बीच के रास्ते पर चलायें। पर यह मुमकिन

हो तो भी क्या जरूरत से ज्यादा बच्चों का पैदा होना बन्द होगा ? मैं मानता हूं कि इससे अधिक अच्छे आदमी पैदा होंगे, पर दुनिया की आबादी घटेगी नहीं बल्कि जन-संख्या की वृद्धि की समस्या इससे और विषम हो जायगी, क्योंकि स्वस्थ-सबल समाज निकम्मे लोगों की बनिस्बत ज्यादा तेजी से बढ़ता है। जानवरों की अच्छी नस्ल पैदा करने की कला हमें अच्छे गाय-बैल और घोड़े देती हैं। पर पांच के बदले चार नहीं देती।

मैं मानता हूं कि 'स्त्री-पुरुष के समागम का उद्देश्य संभोग-सुख नहीं, किन्तु सन्तान की प्राप्ति है। पर आपको भी यह स्वीकार करना होगा कि एक-मात्र सुख की चाह ही मनुष्य को संभोग के लिए भले ही प्रेरित न करती हो; पर अधिकतर वही इसके लिए उकसाती है। प्रकृति अपना काम निकालने के लिए हमारे सामने यह चारा फेंकती है। सुख न मिले तो कितने उसके प्रयोजन की पूर्ति करेंगे या करते हैं ? ऐसे आदमी कितने होंगे जो सुख के लिए संभोग करते हों और सन्तान का प्रसाद पा जाते हों ? और ऐसे कितने हैं जो सन्तान की कामना से संभोग करते हों और उसके घाल में सुख भी भोग लेते हों ? आप कहते हैं—'जहां सन्तान की इच्छा न हो वहां संभोग पाप है।' आप जैसे संन्यासी को यह कहना जरूर फबता है। आपने यह भी तो कहा ही है कि जो अपने पास जरूरत से ज्यादा पैसा या चीजें रखता है वह 'चोर' और 'डाकू' है। और जो दूसरों को अपने से अधिक प्यार नहीं करता वह अपने-आपको कम प्यार करता है। पर बेचारे दीन-दुर्बल मनुष्यों के प्रति आप इतने कठोर क्यों हो रहे हैं ? सन्तान की इच्छा के बिना उन्हे थोड़ा-सा सुख मिल जाय तो उनके तन-मन में होने वाले उलट-फेरों से पैदा होने वाली बेचैनी मिट जाय। बच्चे पैदा होने का डर कुछ लोगों के मानस में अशांति उत्पन्न कर देगा, कुछ लोग इस डर से ब्याह करने में देर करेंगे। साधारणतः ब्याह के कुछ बरस बाद संतान की चाह समाप्त हो जाती है। तो उसके बाद क्या पति-पत्नी का समा-

गम अपराध माना जायगा ? क्या आप समझते हैं कि जो आदमी इस 'अपराध' के डर से अपनी बेचैन वासनाओं को दबा रखता है वह नीति में दूसरों से ऊंचा है ? आखिर जब जरूरत से ज्यादा पैसा या माल-जायदाद बटोर रखने वाले 'चोरों' को आप सहन कर सकते हैं तो इन अपराधियों को क्यों सहन नहीं कर सकते ? इसलिए कि चोरों की संख्या और बल इतना अधिक है कि उनको सुधारना संभव नहीं ?

"अन्त में आप यह फरमाते हैं कि 'बनावटी साधनों का उपयोग बराई को बढ़ावा देना है। वे स्त्री और पुरुष को नतीजे की ओर से बिलकुल लापरवाह बना देते हैं।' यह इलजाम सही हो तो संगीन है। मै जानना चाहता हूं कि 'लोकमत' में क्या कभी इतना बल रहा है कि वह संभोग के अतिरेक को रोक सके ? मैं जानता हूं कि पियक्कड़ लोक-निन्दा के डर से कुछ कम शराब पीता है। पर मैं इन उक्तियों से भी अवगत हूं कि 'जो मुंह चीरता है वह आहार भी देता है।' और 'बच्चे तो भगवान् की देन हैं।' मुझे इस वहम का भी पता है कि बच्चों की बहुलता पुरुषत्व का प्रमाण है। मैं ऐसे उदाहरण जानता हूं जहां इस धारणा ने पति को पत्नी की देह के उपभोग का अबाध अधिकार प्रदान कर दिया है और काम-वासना की तृप्ति को ही पति-पत्नी के नाते का मुख्य अर्थ मान लिया है। इसके सिवा क्या यह तै है कि अप्राकृतिक साधनों से काम लेने का निश्चित परिणाम मानसिक दुर्बलता और नाड़ी मण्डल का शिथिल हो जाना है। तरीके और तरीके में बहुत अन्तर करता है और मेरा विश्वास है कि विज्ञान इस काम की अ-हानि-कर विधियां ढूंढ़ चुका है या जल्दी ही ढूंढ़ लेगा। यह कुछ मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात नहीं है।

"पर जान पड़ता है, आप किसी भी अवस्था में उनसे काम लेने की इजाजत न देंगे, क्योंकि कर्म के फल से बचने की कोशिश अधर्म है, इसमें एतराज की बात इतनी ही है कि आप यह मान लेते हैं कि सन्तान की इच्छा न होने पर अपनी वासना की संयत तृप्ति भी पाप है। इसके

सिवा मै पूछता हूं, बच्चा पैदा होने का डर क्या कभी किसी को अपनी भोगेच्छा तृप्त करने से रोक सका है ? कितने ही स्त्री-पुरुष अपने सुख-स्वास्थ्य की हानि की परवाह न कर अताइयों, नीम-हकीमों के बताये उपाय करते हैं। अपने कर्म के फल से बचने के लिए कितने गर्भ गिराये जाते है ? पर गर्भ-स्थिति या बच्चा पैदा होने का डर कारगर रोक साबित भी हो जाय तो इसका नैतिक परिणाम नगण्य-सा ही होगा। फिर बच्चा मां-बाप के पाप का फल भोगे; व्यक्ति की नासमझी समाज की हानि करे; यह कहां का न्याय है ? यह सही है कि 'प्रकृति दया माया रहित है और अपने नियम का उल्लंघन करने वाले को पूरा दंड देती है।' पर कृत्रिम साधनों से काम लेना प्रकृति के नियम को तोड़ना है यह कैसे मान लिया जाय ? बनावटी दांत, आंख, हाथ पांव को कोई अप्राकृतिक नहीं कहता। अप्राकृतिक वही है जिससे हमारी भलाई नहीं होती। मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य स्वभाव से बुरा है और इन उपायों का उपयोग उसे और बुरा बना देगा। स्वाधीनता का दुरुपयोग आज भी कुछ कम नही होता। हमारा हिन्दुस्तान भी इस विषय में दूसरों पर हँसने लायक नही है। इस नई शक्ति का उपयोग समझदारी के साथ किया जायगा, यह साबित करना भी उतना ही आसान है जितना यह साबित करना कि उसका दुरुपयोग किया जायगा। हमें जान लेना चाहिए कि मनुष्य प्रकृति पर यह बड़ी विजय प्राप्त करना ही चाहता है और उसकी उपेक्षा करके हम अपनी ही हानि करेंगे। बुद्धिमानी इसमे है कि हम इस अशक्ति को काबू में रखे, उससे भगने में नही है। लोक-हित के लिए काम करने वाले कुछ अच्छे-से-अच्छे लोग भी, जो इन उपायों के प्रचारक बन रहे है, इसलिए नही कि लोगों को मनमाना इन्द्रिय-सुख भोगने का सुभीता हो जाय, बल्कि इसलिए हैं कि लोग अपनी वासना को काबू में लाना सीखें।

हमें यह बात भी याद रखनी होगी कि नारी जाति और उसकी आवश्यकताओं की हम बहुत उपेक्षा कर चुके। वह चाहता है कि इस

बारे में उसे भ।जबान खोलने का मौका दिया जाय क्योंकि वह पुरुष को इसकी इजाजत देने को तैयार नहीं है कि वह उसकी देह को बच्चे पैदा करने का खेत समझे। सभ्यता का बोझ उसके लिए इतना भारी पड़ रहा है कि बड़े कुटुंब के पालन का बोझ उससे नहीं चल सकता। डाक्टर मेरी स्टोप्स और कुमारी ऐलन स्त्री के 'नाड़ी-संस्थान के शिथिल हो जाने' का उपाय कभी न करेंगी। उनके बताये हुए उपाय ऐसे हैं जो स्त्रियों द्वारा काम में लाये जाने से ही कारगर हो सकते हैं और उनके उपयोग से असंयत विषय-भोग को प्रोत्साहन मिलने की बनिस्बत स्त्री के मातृ कर्तव्य का अधिक अच्छी तरह पालन कर सकने की आशा रखी जानी चाहिए। जो हो, कुछ अवस्थाएं ऐसी होती हैं जब छोटी बुराई को स्वीकार कर लेना बड़ी बुराई से बचा देता है। कुछ बीमारियां इतनी खतरनाक हैं कि नाड़ी-मण्डल की शिथिलता की जोखिम उठाकर भी उनसे बचना ही होगा। बच्चे को दूध पिलाने के काल के बीच ऐसे 'तटस्थ काल' आते हैं जब समागम अनिवार्य होता है, पर उस समय गर्भ रह जाय तो स्त्री के स्वास्थ्य के लिए हानिकर होता है। कितनी ही स्त्रियों के लिए प्रसव मे जान की जोखिम रहती है, यद्यपि और सब तरह वे स्वस्थ होती हैं।

"मैं यह नहीं चाहता कि आप जनन-नियंत्रण के प्रचारक हो जायं, मैं आपसे इसकी आशा भी नहीं रख सकता। आपके दिव्यतम रूप के दर्शन तो तभी होते हैं जब आप सत्य और ब्रह्मचर्य की पवित्र ज्योति जगाते और उसके खोजियों के सामने रखते हो। पर नासमझ की अपेक्षा समझदार मां-बाप को इस ज्योति की तलाश अधिक होगी। जो जन्म-निरोध की आवश्यकता को समझता है वह वासना के निरोध का सामर्थ्य सहज में प्राप्त कर लेगा। स्वच्छन्दता, बिना सोचे-बिचारे काम करने की प्रवृत्ति और अज्ञान आज इतना बढ़ रहा है कि आप की आवाज भी जंगल में रोने जैसी हो रही है। आपके संकोचभरे और अनिच्छा से लिखे हुए लेख में इसके लिए जितना अवकाश है इस

विषय पर उससे अधिक खुली और आलोकजनक चर्चा होने की आवश्यकता है। आप उसमें शामिल न हो सकें तो कम-से-कम उसकी आवश्यकता तो आपको स्वीकार कर लेनी चाहिए और जरूरी हो तो समय रहते उसकी रहनुमाई भी करनी चाहिए, क्योंकि हमारे रास्ते में अनेक खड्ड-खाइयां हैं और उन खतरों की ओर से आंखें मूंद लेने तथा इस विषय पर कलम उठाने में हिचकने से कोई लाभ न होगा।"

मैं आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह लेख न मैंने संन्यासियों के लिए लिखा है और न संन्यासी की हैसियत से लिखा है। संन्यासी का जो अर्थ समझा जाता है उस अर्थ में मैं अपने-आपको संन्यासी कह भी नहीं सकता। मैंने जो कुछ लिखा है उसका आधार मेरा २५ बरस का अपना अखंड अनुभव ही है, जिसमें यदा-कदा, व्रत भंग हुआ है, और उन मित्रों का अनुभव है जिन्होंने इस आजमाइश में इतने दिनों तक मेरा साथ दिया कि उनके अनुभव से मैं कुछ नतीजे निकाल सकता हूं। इस प्रयोग में युवा और वृद्ध, पुरुष और स्त्री सभी शामिल हैं। उसमें किसी हद तक वैज्ञानिक प्रामाणिकता होने का दावा भी मै कर सकता हूं। उसका आधार निस्सन्देह शुद्ध नैतिक था, पर उसका आरम्भ सन्तति-नियमन की इच्छा से ही हुआ। मेरी अपनी स्थिति खास तौर से ऐसी ही थी। बाद के सोच-विचार से उससे जबर्दस्त नैतिक परिणाम उत्पन्न हुए, पर सब सर्वथा स्वाभाविक क्रम से ही उपजे। मैं यह कहने का साहस भी कर सकता हूं कि समझदारी और सावधानी से काम किया जाय तो बिना अधिक कठिनाई के ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। यह दावा अकेला मेरा ही नहीं है, जर्मनी और दूसरे देशों के प्रकृति-चिकित्सक भी यही कहते हैं। ये लोग बताते हैं कि जल के उपचार, मिट्टी का लेप, और बिना मिर्च-मसाले का भोजन, खासकर फलाहार नाड़ी-संस्थान को शांत करते हैं, और काम-क्रोधादि को जीतना आसान बना देते हैं तथा साथ-साथ नाड़ी-जाल को सबल व सतेज भी बनाते हैं। राजयोगी को योग-क्रियाओं में से अकेले प्राणायाम के नियमित अभ्यास से

भी यही लाभ होता है। न पश्चिमी उपचार-विधि संन्यासियों के लिए है और न प्राचीन भारतीय साधन-प्रणाली ही, बल्कि दोनों खास तौर से गृहस्थों के लिए ही हैं।

कहा जाता है कि जनन-निरोध की आवश्यकता राष्ट्र के लिए है, क्योंकि उसकी आबादी बहुत बढ़ती जा रही है। मुझे इसे मानने से इनकार है। जन-संख्या की अति वृद्धि अभी तक असिद्ध है। मेरी राय में तो जमीन का बन्दोबस्त और बँटवारा ठीक तौर पर हो जाय, खेती का ढंग सुधर जाय और कोई सहायक धंधा उसके साथ जोड़ दिया जाय तो यह देश आज भी दूनी आबादी के भरण-पोषण का भार उठा सकता है। इस देश में जनन-निरोध का प्रचार करनेवालों का साथ जो मैं दे रहा हूं वह महज उसकी वर्तमान राजनीतिक स्थिति के खयाल से।

मैं यह जरूर कहता हूं कि सन्तान की आवश्यकता न रह जाने पर लोगों को अपनी काम-वासना की तृप्ति बंद कर देनी चाहिए। संयम का उपाय लोकप्रिय और प्रभावकर बनाया जा सकता है। शिक्षित वर्ग ने कभी उसे ठीक तौर से आजमाया नहीं। संयुक्त परिवार की प्रथा की बदौलत इस वर्ग ने कुटुम्ब-वृद्धि का बोझ अभी महसूस ही नहीं किया। जो कर रहे हैं उन्होंने प्रश्न के नैतिक पहलुओं पर कभी विचार नहीं किया। ब्रह्मचर्य पर जहां-तहां दो-चार व्याख्यान हो जाने के सिवा, खासकर बच्चों की अनिष्ट बाढ़ रोकने के ही उद्देश्य से, लोगों को संयम की शिक्षा देने के लिए कोई व्यवस्थित प्रचार नहीं किया गया। उलटे यह वहम अब भी बहुतों में बना हुआ है कि अधिक बाल-बच्चों का होना सौभाग्य का चिह्न है। धर्म का उपदेश करनेवाले आम तौर पर यह उपदेश नहीं देते कि कुछ विशेष अवस्थाओं में सन्तानोत्पत्ति रोकना भी वैसा ही धर्म होता है जैसा दूसरी अवस्थाओं में संतान उत्पन्न करना।

मुझे ऐसी शंका होती है कि जनन-निरोध के हिमायती इस बात को पक्की मान लेते हैं कि काम-वासना की तृप्ति जीवन-धारण के लिए

आवश्यक और इष्ट कार्य है। उन्हें स्त्रियों के लिए चिन्ता प्रकट करते देखकर तो बड़ी दया आती है। मेरी राय में बनावटी साधनों से गर्भ-निरोध के समर्थन में स्त्री के हित की दलील देना उसका अपमान करना है। पुरुष की कामुकता उसे यों ही काफी नीचे घसीट लाई है, अब कृत्रिम साधनों का प्रचार–प्रचारकों की नीयत कितनी ही अच्छी क्यों न हो–उसे और नीचे गिराये बिना न रहेगा। मैं जानता हूं कि कुछ नई रोशनीवाली स्त्रियां भी इन साधनों का समर्थन कर रही हैं। पर मझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि नारी जाति का बहुत बड़ा भाग उन्हें अपने गौरव की हानि करनेवाला मानकर ठुकरा देगा। पुरुष को सच-मुच नारी जाति के भले की चिन्ता है तो उसे चाहिए कि अपनी वासना को वश में करे। स्त्री उसे ललचाती नहीं। पुरुष आक्रान्ता होता है, इस-लिए वस्तुतः वही सच्चा मुजरिम और ललचानेवाला है।

कृत्रिम साधनों के समर्थकों से मेरा साग्रह अनुरोध है कि वे अपने प्रचार के नतीजों पर गौर करे। इन उपायों के अधिक उपयोग का फल होगा विवाह के बंधन का टूट जाना और स्वच्छन्द प्रेम की बाढ़। अगर पुरुष के लिए केवल वासना की तृप्ति के लिए ही संभोग करना जायज हो सकता है तो वह उस दशा में क्या करेगा जब उसे लंबे अरसे तक घर से दूर रहना पड़े, या वह लंबी लड़ाई में सैनिक के रूप में काम कर रहा हो, या विधुर हो गया हो, या पत्नी इतनी बीमार हो कि अगर उसे संभोग की इजाजत दे तो कृत्रिम साधनों से काम लेते हुए भी उसके स्वास्थ्य की हानि हुए बिना न रहे?

पर एक दूसरे सज्जन लिखते हैं —

"जनन-नियंत्रण के विषय में 'यंग इंडिया' के हाल के अंक में आप-का जो लेख निकला है उसके संबन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि कृत्रिम साधनों को हानिकर बताकर आप दावे को सबूत मान लेते हैं। पिछले सार्वभौम जनन-नियंत्रण सम्मेलन (लंदन, १९२२) की गर्भ-निरोध-परिषद् ने नीचे लिखे आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था।

इस प्रस्ताव के विरोध में उपस्थित १६४ डाक्टरों में से केवल तीन नें हाथ उठाये थे—

"पांचवें सार्वभौम जनन-नियंत्रण-सम्मेलन के चिकित्सक सदस्यों की इस बैठक की राय में गर्भ-निरोध के स्वास्थ्य-नियमों के अविरोधी उपायों के द्वारा जनन-निरोध शरीर-शास्त्र, कानून और नीति-शास्त्र तीनों की दृष्टि से गर्भ-पात से सर्वथा भिन्न वस्तु है। उसका यह भी कहना है कि गर्भ-निरोध के उत्तम उपाय और साधन स्वास्थ्य की हानि करनेवाले हैं या बांझपन पैदा करते हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं ह।'

"चिकित्सा-शास्त्र के पंडित इतने स्त्री-पुरुषों की, जिनमें से कुछ दुनिया के सबसे बड़े डाक्टरों में से हैं, राय मेरी समझ से कलम के एक फर्राटे से नहीं काटी जा सकती। आप कहते है 'कृत्रिम साधनों के उपयोग का अनिवार्य परिणाम मानसिक दुर्बलता और नाड़ी-मण्डल का शिथिल हो जाना है—"वह 'अनिवार्य' क्यों है ? मै यह कहने का साहस करता हूं कि अज्ञान वश हानिकर साधनों के इस्तैमाल से भले ही ऐसा होता हो, पर आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के व्यवहार से इस तरह की कोई हानि कदापि नहीं होती। यह तो इस बात की एक और दलील है कि गर्भ-निरोध की समुचित विधि उन सब लोगों को, जिन्हें उनकी जरूरत हो सकती है, अर्थात् सभी वयः प्राप्त स्त्री-पुरुषों को सिखा दी जानी चाहिए। आप इन विधियों को बनावटी कहकर इनकी निन्दा करते हैं, फिर भी कहते हैं कि डाक्टर-वैद्य इन्द्रिय-संयम के उपाय ढूंढें। मैं आपका मतलब ठीक तरह से समझ नहीं पाता पर चूंकि आप डाक्टर-वैद्यों की बात कहते हैं, इसलिए पूछता हूं कि उनके ढूढे हुए उपाय भी तो उतने ही बनावटी, अप्राकृतिक होंगे ? आप कहते हैं, समागम का उद्देश्य सुख-प्राप्ति नहीं, सन्तानोत्पादन है। यह उद्देश्य किसका है ? ईश्वर का ? ऐसा है तो उसने काम-वासना की सृष्टि किस लिए की ? आप यह भी कहते हैं कि 'प्रकृति दया-माया-रहित है और अपना कानून तोड़नेवाले से पूरा बदला लेती है।' पर

प्रकृति अन्ततः व्यक्ति नही है, जैसा कि ईश्वर के विषय में माना जाता है, और किसी के नाम फरमान नहीं निकालती। प्रकृति के राज में कर्म का फल अवश्य मिलता है। कुछ कर्मों को हम अच्छा कहते हैं, कुछ को बुरा। बनावटी साधनों को बरतनेवाले भी उसी तरह अपने कर्म का फल भुगतते हैं जिस तरह उनसे काम न लेनेवाले अपने कर्मों का भोगते है। अतः जब तक आप यह साबित न कर दें कि बाह्य साधन और विधियां हानिकारक हैं तब तक आपकी दलील का कुछ अर्थ नहीं होता। अपने अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूं कि ये चीजें बुरी नहीं है, बशर्ते कि ठीक तौर से काम में लाई जायें। किसी का काम भला या बुरा होने का फैसला उसके फल देखकर ही किया जा सकता है, अनुमान-परम्परा के सहारे नहीं।

'सन्तति-नियम, का जो रास्ता आप बताते हैं मालथस ने भीउस पर चलने की सलाह दी थी, पर आप जैसे दस-बीस विशिष्ट पुरुषों को छोड़ कर उस पर चलना और किसी के बस की बात नहीं। ऐसे उपाय बताने से क्या लाभ जो काम में लाये ही न जा सकें ? ब्रह्मचर्य की महिमा बहुत बढ़ाकर गाई जाती है। वर्तमान युग के चिकित्सा-शास्त्र के प्रामाणिक पंडित (मेरा मतलब उन लोगों से है जो इस मसले को धर्म की ऐनक से नहीं देखते) मानते हैं कि २२-२३ की उम्र के बाद संभोग न करने से निश्चित रूप से हानि होती है। सन्तान की कामना को छोड़-कर और किसी उद्देश्य से किये गए समागम को आप जो पाप मानते हैं इसका कारण धर्म की ओर आपका अनुचित झुकाव है। फल की गारंटी पहले से तो कोई दे नहीं सकेगा, इसलिए आप हर आदमी को या तो पूर्ण 'ब्रह्मचर्य धारण का आदेश देते हैं या पाप की जोखिम उठाने का। शरीर-शास्त्र हमें यह शिक्षा नहीं देता, और लोगों से यह कहने के दिन लद चुके कि वे विज्ञान की उपेक्षा करके किसी सन्त-महात्मा के आदेश का अंधानुसरण करें।'

इस पत्र के लेखक को अपने मत का अटल आग्रह है। मैं समझता

हूं, यह दिखाने के लिए मैंने काफी मिसालें सामन रख दीं कि अगर हमें विवाह को धर्म-बंधन मानना और उस बंधन की पवित्रता को बचाये रखना है तो हमें भोग को नहीं बल्कि संयम को जीवन का नियम मानना होगा। मैंने दावे को सबूत, विवादग्रस्त बात को सिद्ध नहीं मान लिया है, क्योंकि मैं तो कहता हूं कि जनन-निरोध के बाहरी उपाय कितने ही अच्छे क्यों न हों, पर हैं वे हानिकर ही। हो सकता है, वे स्वयं निर्दोष हों और केवल इसलिए हानिकारक हों कि वे सोई हुई काम-वासना को जगाते हैं जिसकी भूख भोजन से शांत होने के बदले और भड़कती जाती है। जिस मन को यह मानने की आदत लग गई हो कि अपनी काम-वासना की तृप्ति केवल जायज ही नहीं, इष्ट भी है। वह जी भर-कर विषय-सुख भोगेगा, और अन्त में मन से इतना निर्बल हो जायगा कि वासनाओं को रोकने की उसमें शक्ति ही न रह जायगी। मैं मानता हूं कि एक बार के संभोग का अर्थ भी उस अनमोल शक्ति का क्षय है जो स्त्री-पुरुष सबके तन-मन और आत्मा का बल-तेज बनाये रखने के लिए परमावश्यक है। इस प्रसंग में मैं आत्मा का नाम ले रहा हूं। पर अब तक मैंने इस चर्चा से उसको जान-बूझ कर बाहर रखा था, क्योंकि इसकी गरज महज अपने पत्र-लेखकों की दलालों का जवाब देना है, जिन्हें आत्मा के होने न होने का कोई खयाल ही नहीं दिखाई देता। विवाह के अतिरेक से पीड़ित और बल-तेज गँवाये हुए भारत को बनावटी साधनों की सहायता से काम वासना की परितृप्ति की नहीं बल्कि पूर्ण संयम की शिक्षा की आवश्यकता है, और किसी विचार से न सही तो केवल इसलिए कि उसका गया हुआ बल-तेज उसे फिर प्राप्त हो जाय। नीति-नाशक दवाओं के विज्ञापन, जो हमारे पत्र-पत्रिकाओं के लिए कलंकरूप हो रहे हैं, जनन-निरोध के हिमायतियों के लिए चेतावनी होने चाहिएं। दिखाऊ लज्जा या शालीनता मुझे इस विषय की विस्तृत चर्चा करने से नहीं रोक रही है, बल्कि इस बात का निश्चित ज्ञान उससे रोक रहा है कि हमारे देश के तन-मन से बे-दम नौजवान उन देखने में सही-

सी लगनेवाली दलीलों के सहज में शिकार हो जाते हैं जो असंयत विषय-भोग के पक्ष में दी जाती हैं।

दूसरे पत्र-लेखक ने अपने पक्ष की पुष्टि में जो डाक्टरी सर्टिफिकेट पेश किया है उसका जवाब देना अब मुझे जरूरी नहीं मालूम होता। मैं न यह कहता हूं और न इससे इन्कार ही करता हूं कि कृत्रिम साधनों के व्यवहार से जननेन्द्रियों की हानि होती या बांझपन पैदा होता है। पर अपनी ही स्त्री के साथ अति विषय-भोग के फल से जो सैकड़ों युवकों के जीवन का नाश होते मैंने अपनी आंखों देखा है, बड़े-से-बड़े डाक्टरों की पलटन भी उसे काट नहीं सकती।

पहले लेखक ने जो बनावटी दांत की दलील दी है वह मेरी राय में यहां लगती नहीं। बनाये हुए दांत निस्सन्देह बनावटी और अप्राकृतिक चीज है, पर उनसे एक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। मगर जनन निरोध के कृत्रिम साधन तो उस आदमी का चूरन फांकना है जो अपनी भूख मिटाने के लिए नहीं बल्कि जीभ को तृप्त करने के लिए खाना चाहता हो। स्वाद के लिए भोजन भी वैसा ही पाप है जैसा केवल भोग-सुख के लिए संभोग करना।

तीसरे पत्र से हमें एक जानने लायक बात मालूम होती है—जनन-नियंत्रण प्रश्न दुनिया की सभी सरकारों को परेशान कर रहा है। यह तो आप जानते ही होंगे कि अमेरिका की सरकार इसके प्रचार की विरोधिनी है। निश्चय ही आपने यह भी सुन रखा होगा कि एक पूर्वीय साम्राज्य जापान ने न साधनों के प्रचार-व्यवहार की आम इजाजत दे रखी है। एक हर हालत में गर्भनिरोध का निषेध करता है, चाहे वह कृत्रिम साधनों से किया जाय या प्राकृतिक साधनों से, दूसरा उसका पोषक प्रचारक है। दोनों की वृत्तियों के कारण सर्वविदित है। मेरी समझ से अमरीका के रुख में कोई ऐसी बात नहीं जिसकी सराहना की जाय। पर जापान का कार्य क्या अधिक निंदनीय है? उसे कम-से-कम वस्तुस्थिति का सामना करने का यश तो मिलना ही चाहिए। वह अपनी आबादी का बढ़ना रोकने के

लिए लाचार है। मनुष्य स्वभाव को भी उसे वह आज जैसा है वैसा मानना ही होगा। ऐसी दशा में क्या जनन-निरोध उस अर्थ में, जिसमें पच्छिम में उसका ग्रहण होता है, उसके लिए एक-मात्र मार्ग नहीं ? आप कहेंगे, 'हर्गिज़ नहीं।' पर क्या मैं आपसे पूछ सकता हूं कि आप जो रास्ता बताते हैं वह व्यवहार्य है ? वह आदर्श भले ही हो, पर क्या उसपर चला जा सकता है ? क्या जन-समाज से संभोग-सुख के कहने लायक त्याग की आशा रखी जा सकती है ? थोड़े से गौरवशाली पुरुषों के लिए जो संयम और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह आसान हो सकता है ? पर क्या यह रास्ता इस योग्य है कि इसके प्रचार के लिए सार्वजनिक आन्दोलन किया जाय ? और हिन्दुस्तान की हालत ऐसी है कि यहां देशव्यापी आम आन्दोलन होने से ही काम हो सकता है।"

अमरीका और जापान की स्थिति से अपनी अनभिज्ञता मुझे स्वीकार करनी ही होगी। जापान जनन-निरोध का प्रचार क्यों कर रहा है इसका मुझे पता नहीं। लेखक की बताई हुई बातें अगर सही हैं और अप्राकृतिक उपायों से जनन-बिरोध जापान में आम है, तो मैं यह कहने का साहस करता हूं कि यह श्रेष्ठ राष्ट्र अपने नैतिक नाश की ओर बहुत तेजी से बढ़ रहा है।

हो सकता है, मेरी राय बिलकुल गलत हो, मेरे सिद्धान्त गलत तथ्यों के आधार पर स्थिर किये गए हों। पर बनावटी उपायों के समर्थक थोड़ा धीरज रखें। हाल की मिसालों के सिवा उनके पास और कोई तथ्य-सामग्री नहीं है। निश्चय ही जो प्रणाली देखने में मनुष्य की नीतिवृत्ति की इतनी विरोधिनी जान पड़ती है उसके बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहना अभी अति असामयिक है। अपनी जवानी के साथ खिलवाड़ करना आसान है, पर इस खिलवाड़ के कुपरिणामों से बचना कठिन है।

: ९ :

गुह्य प्रकरण

जिन पाठकों ने आरोग्य के प्रकरण ध्यानपूर्वक पढ़े हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि इस प्रकरण को और भी ध्यान से पढ़ें, उस पर खूब विचार करें। अभी दूसरे प्रकरण लिखने को बाकी हैं और मुझे आशा है कि वे उपयोगी भी होंगे। पर इस विषय पर दूसरा कोई भी प्रकरण इतने महत्त्व का न होगा। मैं पहले से बतला चुका हूं कि इन प्रकरणों में मैंने एक भी बात ऐसी नहीं लिखी है जिसको मैंने खुद अनुभव न किया हो और जिस पर मेरा दृढ़ विश्वास न हो।

आरोग्य की बहुत-सी कुंजियां हैं और सभी बहुत जरूरी हैं, पर उसकी मुख्य कुंजी ब्रह्मचर्य है। अच्छी हवा, अच्छा पानी, अच्छी खूराक से हम आरोग्य पा सकते हैं। पर हम जितना पैसा कमायें उतना सब उड़ा दें तो हमारे पास कुछ बचेगा नहीं। वैसे ही हम जितनी तंदुरुस्ती कमायें उतनी सब खर्च कर डालें तो हमारे पास पूंजी क्या होगी? स्त्री-पुरुष दोनों को आरोग्य रूपी धन का संचय करने के लिए ब्रह्मचर्य-धारण की पूरी आवश्यकता है। इसमें किसी को भी शक-शुबहा न होना चाहिए। जिसने अपने वीर्य का संचय किया है वही वीर्यवान्, बलवान कहा और माना जा सकता है।

पूछा जायगा ब्रह्मचर्य है क्या चीज? पुरुष स्त्री का और स्त्री पुरुष का भोग न करे, यही ब्रह्मचर्य है। भोग न करने का अर्थ इतना ही नहीं है कि एक दूसरे को भोग की इच्छा से स्पर्श न करे बल्कि मन इसका विचार भी न करे। इसका सपना भी नहीं होना चाहिए। पुरुष स्त्री को देखकर पागल न हो, स्त्री पुरुष को देखकर। प्रकृति ने जो गुह्य शक्ति हमें दे रखी है, हमें उचित है कि उसको अपने शरीर में ही

बनाये रखे और उसका उपयोग केवल तन को ही नहीं, मन, बुद्धि और धारणा शक्ति को भी अधिक स्वस्थ-सबल बनाने में करें।

पर अब देखिये, हमारे आस-पास कौन-सा दृश्य दिखाई दे रहा है। छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सभी इस मोह में डूब रहे हैं। ऐसे समय हम पागल-से हो जाते हैं। हमारी अकल ठिकाने नहीं रहती। काम हमें अंधा बना देता है। काम के वश में हुए स्त्री-पुरुषों और लड़के-लड़कियों को मैंने बिलकुल पागल बन जाते देखा है। मेरा अपना अनुभव अभी इससे भिन्न नहीं है। जब-जब मेरी वह दशा हुई है मैं अपनी सुध-बुध खो बैठा हूं। यह चीज है ही ऐसी। रत्ती-भर रति-सुख के लिए हम मन भर से अधिक शक्ति पल भर में गँवा बैठते हैं। जब हमारा नशा उतरता है तो हम रंक बन जाते हैं। अगले दिन सवेरे हमारा शरीर भारी रहता है। हमें सच्चा चैन नहीं मिलता। हमारा तन शिथिल होता है और मन बे-ठौर-ठिकाने हो जाता है। इन सबको ठिकाने लगाने के लिए हम सेरों दूध चढ़ाते, रस-भस्म फांकते, 'याकूती' गोलियां खाते और वैद्यों के पास जा जाकर 'पुष्टई' मांगा करते हैं। क्या खाने से काम बढ़ेगा इसकी खोज में लगे रहते हैं। यों दिन जाते हैं और ज्यों-ज्यों बरस बीतते हैं हमारा शरीर और बुद्धि शिथिल होती जाती है और बुढ़ापे में अक्ल सठियाई हुई दिखाई देती है।

पर वस्तुतः ऐसा होना ही न चाहिए। बुढ़ापे में बुद्धि मंद होने के बदले और तीक्ष्ण होनी चाहिए। हमारी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि इस देह में मिले हुए अनुभव हमारे और दूसरे के लिए लाभदायक हो सकें और जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसकी ऐसी स्थिति रहती भी है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता और मरते समय भा वह भगवान् को नहीं भूलता और न बेकार की हाय-हाय करता है। मरण-काल के उपद्रव भी उसे नहीं सताते और वह हंसते-हंसते यह देह छोड़कर मालिक को अपना हिसाब देने जाता है। जो इस तरह मरे वही पुरुष और वही स्त्री है। उसी ने सच्चे स्वास्थ्य का सम्पादन किया, यह माना जायगा।

हम साधारणतः यह नहीं सोचते कि दुनिया में जो इतना भोग-विलास, डाह, बैर, बड़ापन, आडंबर, क्रोध, अधीरता आदि है उसकी जड़ हमारे ब्रह्मचर्य भंग करने में ही है। यों हमारा मन हाथ में न रहे और हम रोज एक या अनेक बार बच्चे से भी अधिक नासमझ हो जायं तो फिर जानकर या अनजान में कौन-कौन से पाप हम नहीं करेंगे, कौन-सा घोर कर्म है जिसे करने में हमें अटक होगी ?

पर ऐसे लोग भी हैं जो पूछेंगे--ऐसा ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले को किसने देखा है ? सभी ऐसे ब्रह्मचारी हो जायं तो यह दुनिया कितने दिन टिकेगी ? इस प्रश्न पर विचार करने में धर्म की चर्चा भी उठ सकती है। अतः उसके उस अंग को छोड़कर मैं केवल लौकिक दृष्टि से उस पर विचार करूंगा। मेरी राय में यह दोनों सवाल हमारे कायरपन और डरपोकपन से पैदा होते हैं। हम ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते नहीं इसलिए उससे भागने के लिए बहाने ढूढते रहते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले इस दुनिया में बहुतेरे पड़े हैं। पर वे गली-गली मारे-मारे फिरें तो उनका मूल्य ही क्या होगा ? हीरा पाने के लिए हजारों मजदूरों को धरती के पेट मे समा जाना पड़ता है। इसके बाद भी जब धूल-कंकड़ों का पहाड़ धो डाला जाता है तब कहीं मुट्ठी-भर हीरा हाथ लगता है। तब सच्चे ब्रह्मचर्यरूपी हीरे की तलाश में कितनी मेहनत करनी होगी, इसका जवाब हर आदमी त्रैराशिक करके निकाल सकता है। ब्रह्मचर्य के पालन से सृष्टि की समाप्ति हो जाय तो इससे अपने को क्या लेना-देना है ? हम कुछ ईश्वर नहीं हैं। जिसने सृष्टि रची है वह खुद उसकी फिक्र कर लेगा। दूसरे भी उसका पालन करेंगे या नहीं यह सवाल तो हमें करना ही न चाहिए। हम जब वाणिज्य-व्यापार, वकालत आदि करने लगते हैं तब तो यह नहीं पूछते कि अगर सभी वकील-व्यापारी हो जायंगे तो क्या होगा ? जो ब्रह्मचर्य का पालन करेगा उस पुरुष या स्त्री को कुछ दिन बाद इस सवाल का जवाब अपने-आप मिल जायगा। उसे अपने जैसे दूसरे मिल जायंगे

और सभी ब्रह्मचारी हो जायं तो सृष्टि कैसे चलेगी यह भी दिन के उजाले की तरह स्पष्ट हो जायगा।

संसारी मनुष्य इन विचारों को किस तरह अमल में ला सकता है? विवाहित स्त्री-पुरुष क्या करें? बाल-बच्चे वाले क्या करें? जो काम का वश में न रख सकें वे क्या करें?

हमारे लिए अच्छी-से-अच्छी स्थिति क्या हो सकती है, यह हमने देख लिया। इस आदर्श को हम अपने सामने रखें तो उसकी हूबहू या उससे कुछ उतरती नकल उतार सकेंगे। हम बच्चे को अक्षर लिखना सिखाने लगते हैं तो सुन्दर-से-सुन्दर अक्षर के नमूने उसके सामने रखते हैं। बच्चा अपनी शक्ति के अनुसार उनकी पूरी-अधूरी नकल उतारता है। इसी तरह अखंड ब्रह्मचर्य का आदर्श अपने सामने रखकर हम उसके अनुकरण का यत्न कर सकते हैं। ब्याह कर लिया है तो क्या हुआ। प्रकृति का नियम यही है कि स्त्री-पुरुष को जब सन्तान की चाह हो तभी वे ब्रह्मचर्य का भंग करें। जो दम्पति इस का ध्यान रखते हुए दो-तीन या चार-पांच बरस में एक बार ब्रह्मचर्य को तोड़ेंगे वे बिलकुल पागल नहीं बन जायंगे और उनके पास वीर्यरूपी पूंजी भी काफी जमा रहेगी। ऐसे स्त्री-पुरुष तो मुश्किल से ही दिखाई देते हैं जो केवल सन्तान की कामना से ही सम्भोग करते हों। हजारों लाखों जन तो अपनी काम-वासना की तृप्ति चाहते हैं और उसके लिए ही सम्भोग करते हैं। फल यह होता है कि उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध सन्तान की प्राप्ति होती है। विषय-सुख भोगने में हम इतने अन्धे हो जाते हैं कि आगे-पीछे कुछ सुझाई ही नहीं देता। इस विषय में स्त्री की बनिस्बत पुरुष अधिक अपराधी होता है। वह इतना कामांध होता है कि स्त्री में गर्भ-धारण और बच्चे के पालन-पोषण का बोझ उठाने की शक्ति है या नहीं इसका उसे खयाल तक नहीं रहता।

पश्चिम के लोग तो इस विषय में सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं। वे इसके लिए अनेक उपाय करते हैं कि वे विषय-सुख तो जी भरकर

भोगते रहें पर बच्चों का बोझ उन्हें न उठाना पड़े। इन उपायों पर पुस्तकें लिखी गई हैं और गर्भ-निरोध के साधन जुटाना एक रोजगार बन गया है। हम इस पाप से अभी तो मुक्त हैं, पर अपनी पत्नियों पर गर्भ-धारण का बोझ लादते हमें तनिक भी आगा-पीछा नहीं होता, न इसकी ही परवाह होती है कि हमारी सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, वीर्यहीन और नपुंसक होगी। उलटे घर में बच्चा पैदा होता है तो इसे भगवान की दया मानते और उसे धन्यवाद देते हैं। निर्बल, निर्जीव, विषयी अपंग सन्तान हो इसे हम ईश्वर का कोप क्यों न मानें? बारह बरस का बालक बाप बने इसमें किस बात की खुशी मनायें, किस बात का उछाव-बधाव करें? बारह वर्ष की बच्ची का माता बनना ईश्वर का महाकोप क्यों न माना जाय? साल-दो-साल के लगाये हुए पेड़ में फल आयें तो उसकी बाढ़ मारी जायगी, यह हम जानते हैं और वह इतनी जल्दी न फले इसका उपाय करते हैं। पर बालवधू के बालक वर से सन्तान उत्पन्न हो तो हम गाते-बजाते और दावतें देते हैं? क्या यह सामने खड़ी दीवार को न देखना नहीं है?

हिन्दुस्तान मे या दुनिया में और कहीं निर्वीर्य-निकम्मे आदमी कीड़ों-मकोड़ों की तरह पैदा हों तो इससे हिन्दुस्तान या दुनिया का उद्धार होगा? एक दृष्टि से तो पशु हा हमसे अच्छे हैं। हमें जब उनसे बच्चा पैदा कराना होता है तभी हम नर-मादा का संयोग कराते हैं। संयोग के बाद गर्भ-काल और प्रसव के बाद जब तक बच्चे का दूध नहीं छूटता और वह बड़ा नहीं हो जाता तब तक का काल अति पवित्र माना जाना चाहिए। इस काल में स्त्री-पुरुष दोनों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। पर इसके बदले हम क्षण-भर भी सोचे-विचारे बिना अपना काम किये जाते हैं। इतना रोगी हो गया है हमारा मन! इसको कहते हैं असाध्य रोग। यह रोग हमें मौत के पास पहुँचा देता है; और मौत नहीं आती तब तक हम पागल की तरह भरमते रहते हैं।

अतः विवाहित स्त्री-पुरुषों का फर्ज है कि अपने विवाह का गलत

अर्थ न लगाकर सही अर्थ लगाये और जब उन्हें सचमुच सन्तान की इच्छा और आवश्यकता हो तभी उत्तराधिकारी की प्राप्ति के उद्देश्य से समागम करें। हमारी आज की दयनीय दशा में यह होना बहुत ही कठिन है। हमारी खूराक, हमारी रहन-सहन, हमारी बातचीत, हमारे आस-पास के दृश्य सभी हमारी विषय-वासना को जगाने वाले हैं। अफीम के नशे की तरह विषय-वासना हमारे सिर पर सवार रहती है। ऐसी स्थिति में विचार करके पीछे हटना कैसे हो सकेगा? पर जो होना चाहिए वह कैसे होगा, यह पूछनेवालों की शंका का जवाब इस लेख में नहीं मिलेगा। यह तो उन्हीके लिए लिखा जा रहा है जो विचार करके, जो करना चाहिए उसे, करने उसकी कोशिश करने को तैयार है। जो अपनी मौजूदा हालत से संतोष मान बैठे हैं उन्हें तो इसका पढ़ना भी भारी लगेगा। पर जिन्हें अपनी दीन दशा का पता लग गया है और उससे कुछ ऊब भी उठे है उन्ही की मदद करना इस लेख के लिखे जाने का हेतु है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे हम यह नतीजा निकाल सकते है कि जो लोग अब तक अविवाहित हैं उन्हें इस कठिन काल में ब्याह करना ही न चाहिए। और अगर ब्याह किये बिना चले ही नहीं तो जितनी देर से कर सकें, करें। २५-३० वर्ष तक ब्याह न करने की तो युवकों को प्रतिज्ञा ही कर लेनी चाहिए। इस व्रत से स्वास्थ्य के अति-रिक्त जो अन्य अनेक लाभ होंगे उनका विचार हम यहां नहीं कर सकते। पर हर आदमी वे लाभ ले सकता है।

जो मां-बाप इस लेख को पढ़ें उनसे मेरा कहना है कि जो लोग बचपन ही में अपने बेटे-बेटियों का ब्याह या सगाई करके उन्हें बेच देते है वे उनका घोर अहित करते हैं। ऐसा करके वे अपने बच्चों का हित करनें के बदले अपने ही अन्धे स्वार्थ का साधन करते हैं। उन्हें अपना बड़प्पन दिखाना है, जाति-बिरादरी में नाम पैदा करना है, बेटे का ब्याह करके हौसला निकालना है। उन्हें बेटे का हित देखना

हो तो उसकी पढ़ाई-लिखाई पर निगाह रखें, उसकी सेवा-जतन करें, उसकी देह को दृढ़-पुष्ट बनाने का उपाय करें। इस कठिन काल में बचपन में ही उनके गले में गृहस्थी का जुआ डाल देने से बढ़कर उनका अहित और क्या हो सकता है।

अन्त में स्वास्थ्य का नियम यह भी है कि पति-पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाये तो दूसरा इसके बाद विधुरत्व या वैधव्य व्रत का पालन करे। कितने ही डाक्टर कहते हैं कि जवान स्त्री-पुरुष को वीर्यपात का मौका मिलना ही चाहिए। दूसरे कितने ही डाक्टर कहते हैं कि किसी भी हालत में वीर्य-पात आवश्यक नहीं। जब डाक्टर आपस में यों लड़ रहे हों तब यह मानकर कि डाक्टर हमारे मत का समर्थन करते हैं हम विषय-भोग में लीन रहें, यह कदापि न होना चाहिए। मेरे अपने और जिन दूसरों के अनुभव मैं जानता हूं उनके आधार पर मैं निस्संकोच कह सकता हूं कि स्वास्थ्यरक्षा के लिए संभोग की आवश्यकता नहीं है, यही नहीं, उससे—वीर्य-व्यय से—स्वास्थ्य की भारी हानि होती है। अनेक बरसों में कमाई हुई तन-मन की शक्ति एक बार के वीर्य-पात से भी इतना खर्च हो जाती है कि उस छीज को भरने के लिए बहुत समय चाहिए। और इतना वक्त लगाकर भी हम अपनी पहली स्थिति को तो पहुँच ही नहीं सकते। टूटे हुए शीशे को मसाले से जोड़कर आप उससे काम भले ही ले लें, पर वह होगा तो टूटा हुआ ही।

वीर्य की रक्षा के लिए स्वच्छ वायु, स्वच्छ जल, स्वच्छ आहार और स्वच्छ विचार की पूरी आवश्यकता है। इस प्रकार सदाचार का स्वास्थ्य के साथ बहुत नजदीक का नाता है। पूर्ण सदाचारी पुरुष ही पूर्ण स्वास्थ्य का सुख-भोग सकता है। 'जगें तब से सवेरा' मानकर जो लोग ऊपर लिखी बातों पर भरपूर विचार करके उनमें दी हुई सलाहों पर अमल करेंगे उन्हें खुद उनकी सचाई का अनुभव हो जायगा। जिसने थोड़े दिन ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा वह भी अपने तन और मन दोनों का बल बढ़ा हुआ पायेगा। और यह पारस मणि एक

बार उसके हाथ लगी तो वह यावज्जीवन उसको बहुत संभाल कर रखेगा। जरा भी चूकेगा तो तुरंत उसे पता चल जायगा कि उसने भारी भूल की। मैंने तो ब्रह्मचर्य के अगणित लाभ जान और समझ लेने के बाद भी भूलें कीं और उनके कड़वे फल भी चख लिये हैं। चूक के पहले अपने मन की जो भव्य दशा थी और उसके बाद जो दीन दशा हो गई, दोनों की तसवीरें अब भी मेरी आंखों के सामने आया करती हैं। पर अपनी चूकों से ही मैं इस पारस-मणि का मूल्य जान सका। अब भी ब्रह्मचर्य का अखंड पालन कर सकूंगा कि नहीं यह तो नहीं जानता, पर भगवान् की दया होने से पाल सकने की आशा रखता हूं। उससे मेरे तन-मन का जो उपकार हुआ है वह मैं देख सकता हूं। मैं बचपन में ब्याहा गया। बचपन में ही काम से अन्धा बना। बचपन में ही बाप बना और बहुत बरसों के बाद जाग सका। जाग कर देखा तो जान पड़ा, जैसे महारात्रि का सवेरा हुआ हो। मेरी भूलों और अनुभवों से अगर एक भी पाठक चेत गया और उन भूलों से बचा तो मैं मान लूंगा कि यह प्रकरण लिखकर मैं कृतार्थ हो गया।

यह त्रिराशि बांधने लायक है। बहुत से लोग कहते हैं और मैं खुद भी कहता हूं कि मुझमें भरपूर उत्साह है। मेरा मन तो निर्बल माना ही नहीं जाता। कितने ही लोग तो मुझे हठी मानते हैं। मेरे तन और मन में रोगों का बसेरा है फिर भी जिन लोगों से मेरा संग-साथ हुआ है उनकी तुलना में मैं काफी तन्दुरुस्त माना जाता हूं। यह दशा तब है जब कमोबेश बीस वर्ष भोग-रत रहने के बाद मैं जाग पाया। तब अगर वे २० साल भी मैं बचा सका होता तो आज मैं कहां होता? मैं मानता हूं कि वैसा हुआ होता तो आज मेरे उत्साह का पार न होता और जनता की सेवा में या अपने स्वार्थ के कामों में ही मैं इतना उत्साह दिखलाता कि मेरी बराबरी करनेवाले की पूरी परीक्षा हो जाती। इतना सार मेरे खंडित ब्रह्मचर्य के उदाहरण में से खींचा जा सकता है। तब जो अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है उसके शरीर

मानस और नैतिक बल को तो जिसने देखा है वही जान सकता है। उसका वर्णन नहीं हो सकता।

इस प्रकरण को पढ़नेवालों ने यह तो समझ ही लिया होगा कि जब मैंने विवाहितों को ब्रह्मचर्य धारण की और जिनका घर उजड़ गया है उन्हें विधुर या विधवा बने रहकर ही जिंदगी बिताने की सलाह दी है तब विवाहित या अविवाहित स्त्री या पुरुष को और कहीं अपनी काम-वासना तृप्त करने का अवकाश तो हो ही नहीं सकता। परन्तु परस्त्री या वेश्या पर कुदृष्टि डालने के जो घोर परिणाम होते हैं उन पर विचार करने के लिए हम यहां नहीं रुक सकते। यह धर्म और नीति-तत्त्व का गम्भीर प्रश्न है। यहां तो इतना ही कहा जा सकता है कि परस्त्री-गमन और वेश्या-गमन से आदमी गरमी-सूजाक जैसे रोगों से पीड़ित होता और सड़ता दिखाई देता है। प्रकृति इतनी दया करती है कि ऐसे स्त्री-पुरुषों को अपने पाप का फल तुरत मिल जाता है। फिर भी वे सोये ही रहते हैं और अपने रोगों की दवा की खोज में वैद्य-डाक्टरों के यहां भटकते रहते हैं। परस्त्री-गमन न हो तो ५० फी सदी वैद्य-डाक्टर बेरोजगार हो जायंगे। इन रोगों ने मनुष्य जाति को इस तरह जकड़ लिया है कि विचारशील डाक्टर भी कहते हैं कि परस्त्री-गमन की बुराई समाज से न गई तो हमारे लाख खोज करते रहने पर भी मानव जाति का नाश निश्चित है। इससे होनेवाले रोगों की दवाएं भी इतनी जहरीली हैं कि उनसे एक रोग जाता दिखाई देता है तो दूसरे देह में डेरा डालते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं।

यह प्रकरण जितना सोचा था उससे अधिक लंबा हो गया। अतः अब विवाहित जनों को ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय बताकर इसे समाप्त करता हूं। महज़ खूराक, हवा-पानी के नियमों का पालन करके ही कोई विवाहित पुरुष ब्रह्मचर्य नहीं निभा सकता। उसे अपनी स्त्री के साथ एकान्त में मिलना-जुलना बंद करना होगा। थोड़ा विचार करने से

हर आदमी देख सकता है कि संभोग के सिवा और किसी बात के लिए अपनी स्त्री से एकान्त में मिलने की जरूरत नहीं होती। रात में पति-पत्नि को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए। दिन में दोनों को अच्छे कामों और अच्छे विचारों में सदा लगे रहना चाहिए। जिनसे अपने सद्-विचार को उत्तेजन मिले ऐसी पुस्तकें पढ़ें। ऐसे स्त्री-पुरुषों के चरित्रों का मनन करें और विषय-भोग में दुःख-ही-दुःख है इसे सदा स्मरण रखें। संभोग की इच्छा जब-जब हो तब-तब ठंडे पानी से नहा लिया करें। शरीर में रहने वाली महाग्नि इससे और अच्छा रूप प्राप्त करेगी और स्त्री-पुरुष दोनों के लिए उपकारक होकर उनके सच्चे सुख की वृद्धि करेगी। यह बात है तो कठिन, पर कठिनाइयों को जीतने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है। जिसे सच्चा स्वास्थ्य भोगना हो उसे इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करनी ही होगी।

: १० :

सुधार या बिगाड़

एक भाई जिन्हें मै अच्छी तरह जानता हूं, लिखते हैं :—

"क्या प्रचलित नीति प्राकृतिक है? यह प्रश्न मन मे बारबार उठा करता है। आपने 'नीति-धर्म' लिखकर आज की प्रचलित नीति का समर्थन किया है। पर क्या यह नीति प्रकृति-प्रेरित है? मुझे तो ऐसा लगता है कि यह अप्राकृतिक है। आज की नीति की बदौलत ही तो मनुष्य विषय-भोग मे पशु से भी अधिक अधम बन गया है। आज की नीति-मर्यादा मे विवाह-सम्बन्ध सन्तोषजनक शायद ही होता हो, होता ही नहीं कहूं तो भी गलत न होगा। जब ब्याह का नियम न था तब प्रकृति के अनुसार स्त्री-पुरुष का समागम होता था और वह सुखदायी होता था। जब से नीति के बंधन लगे तब से तो यह समागम एक तरह की व्याधि बन गया है जिसमें आज सारा जगत् ग्रस्त है और होता जारहा है।

"फिर नीति कहें किसको? एक की नीति दूसरे के लिए अनीति है। एक एक ही स्त्री के साथ ब्याह करना स्वीकार करता है, दूसरा अनेक पत्नियां करने की छूट देता है। कोई चाचा-मामा के बेटे-बेटी के साथ विवाह-सम्बन्ध त्याज्य मानता है, कोई इसकी इजाजत देता है। तब किसे नीति मानें? मेरा तो कहना है कि ब्याह एक सामाजिक विधान है, धर्म के साथ इसका कोई लगाव नहीं। अगले जमाने के महापुरुषों ने देश-काल के अनुसार नीति बना ली।

"अब आप देखें कि इस नीति ने दुनिया का किस तरह नाश किया है—

१. गरमी-सूजाक जैसे रोग पैदा हुए। पशुओं में इन बीमारियों का

पता नहीं है, इसलिए कि उनमें समागम प्रकृति के नियमानुसार होता है।

२. भ्रूण-हत्या और बाल-हत्याएँ हुईं, यह लिखते तो कलेजा कांप उठता है। इस नीति-नियम के कारण ही कोमलहृदया माता क्रूर बनकर अपने ही हाथों, गर्भ में ही या गर्भ से बाहर आने पर, अपने बच्चों का वध करती है।

३. बाल-विवाह, बेमेल विवाह इत्यादि इच्छा विरुद्ध समागम। इसी समागम की बदौलत आज दुनिया, खासकर हिन्दुस्तान बल-वार्य में इतना रंक हो रहा है।

४. ज़न-ज़मान-ज़र के झगड़ों में 'ज़न' (स्त्री) के लिए होनेवाले झगड़े का स्थान पहला है। यह भी आज चलनेवाली नीति की ही देन है।

"इन चार के सिवा और बातें भी होंगी। तब मेरी दलील सही हो। तो क्या प्रचलित नीति में सुधार न होना चाहिए ?

"आप ब्रह्मचर्य को मानते हे सो तो ठीक है। पर ब्रह्मचर्य अपनी खुशी का होना चाहिए, जोर-जबर्दस्ती का नहीं। मगर हिंदू तो लाखों विधवाओं से जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य रखवाते हैं। इन विधवाओं का दुःख तो आप जानते हैं। इसकी बदौलत बाल-हत्याएँ होती हे, यह बात भी आपसे छिपी नहीं है। ऐसी दशा में उनके पुनर्विवाह के पक्ष मे आप जबर्दस्त आन्दोलन चलायें तो क्या यह कम महत्त्व का कार्य होगा ? फिर इस ओर जितना चाहिए उतना ध्यान आप क्यों नहीं देते ?"

मैं समझता हूं, लेखक ने इस लेख में जो प्रश्न उठाये है वे केवल इसीलिए उठाये गये हैं कि मैं इस विषय पर कुछ लिखूं। कारण यह कि इसमें जिस पक्ष का समर्थन किया गया है उस पक्ष का समर्थन लेखक खुद करता होगा, यह मै नहीं जानता। पर इतना जानता हूं कि इस लेख में जो प्रश्न आये हैं वे अब हिंदुस्तान में भी उठने लगे हैं। इन विचारों की पैदाइश पच्छिम में हुई है। ब्याह दकियानूसी, जंगली,

अनीति बढ़ानेवाली प्रथा है—यह मानने वालों की संख्या पच्छिम में पहले भी कुछ बहुत छोटी नहीं थी। अब तो शायद वह बढ़ती भी जारही है। ब्याह को जंगली रिवाज मानने के लिए पच्छिम मे जो दलीले दी जाती हैं उन सभी को मैने नहीं पढ़ा है। पर प्रस्तुत लेखक ने जो दलीले दी है वैसी ही वे हों तो मुझ जैसे पुराण-पथी (या मेरा यह दावा टिक सकता हो तो सनातनी) को उनका खंडन करने में कोई कठिनाई या परेशानी न होगी।

मनुष्य की पशु के साथ तुलना करना ही भूल की जड़ है। मनुष्य के लिए जो नीति और मानदंड व्यवहृत होता है वह पशु-नीति से अनेक विषयों में भिन्न और श्रेष्ठ है। और इस भेद में ही मनुष्य की विशेषता है। इसलिए प्रकृति के नियमों का जो अर्थ पशु-योनि के लिए किया जाता है वह मनुष्य-योनि पर सदा घटित नहीं होता। मनुष्य को ईश्वर ने विवेक की शक्ति दे रखी है। पशु पूर्णतया पराधीन है। पशु के लिए स्वतन्त्रता अर्थात् पसन्द, चुनाव जैसी कोई चीज है ही नहीं। पर मनुष्य की अपनी पसन्द होती है—दो चीजों मे से एक को वह चुन सकता है, भले-बुरे का विचार कर सकता है, और स्वतन्त्र होकर काम करता है इससे उसके लिए पाप-पुण्य भी होता है। पर जहा उसके लिए पसन्द-चुनाव का अवकाश है वहां पशु से हीन बन जाने का अवकाश भी है। वह अगर अपने दिव्य स्वभाव का अनुसरण करे तो वह पशु से ऊपर भी उठ सकता है। जंगली-से-जंगली जान पड़ती हुई जाति में भी थोड़ा-बहुत विवाह का बंधन होता ही है। अगर कहिए कि इस बंधन में ही उसका जंगलीपन है, क्योंकि पशु इस बंधन मे बंधता ही नहीं, तो इसका अर्थ यह निकला कि स्वच्छन्दता ही मनुष्य का नियम है। पर सारे मनुष्य चौबीस घंटे भी पूर्ण स्वेच्छाचारी बने रहें तो दुनिया का खातमा ही हो जाय। कोई किसी की न सुने, न माने, स्त्री-पुरुष के बीच किसी मर्यादा का होना अधर्म माना जाय। मनुष्य के वासना-विकार तो पशु से प्रबल होते ही है। इन विकारों की

लगाम ढीली कर दी जाय तो इनके वेग मे से पैदा होनेवाली आग ज्वालामुखी का विस्फोट बनकर क्षण-भर मे दुनिया को भस्म कर डालेगी। थोड़ा-सा विचार करने से यह बात हमारे लिए स्पष्ट हो जायगी कि मनुष्य ने जो इस जगत् के दूसरे अनेक प्राणियों पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया है वह केवल अपने संयम, त्याग, आत्म-बलिदान, यज्ञ और कुरबानी के बल से ही किया है।

गरमी-सूज़ाक का उपद्रव ब्याह की बदौलत नहीं है. उनकी उत्पत्ति का कारण है विवाह के नियमों का भंग किया जाना और कि मनुष्य का पशु न होते हुए भी पशु का अनुकरण करने जाकर दूषित हो जाना। विवाह के नियमों का पालन करनेवाले एक भी आदमीको मै नहीं जानता जिसे कभी ऐसी भयानक बीमारियां हुई हों। चिकित्सा-शास्त्र ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि जहां-जहां रोग हुए है वहां-वहां मुख्यतः विवाह-नीति का भंग करने या इस नीति का भग करने वालों के स्पर्श से ही हुए हैं। बाल विवाह और बाल-हत्या की निर्दय प्रथा भी विवाह-नीति से नहीं बल्कि उस नीति का भग करने से पैदा हुई है। विवाह-नीति तो यह कहती है कि जब पुरुष या स्त्री पूरी उम्र को पहुच जायं, उसे सन्तान की चाह हो, वह तन-मन से स्वस्थ हो, तभी कुछ मर्यादाओं के अदर रहते हुए अपने लिए योग्य साथी ढूंढ ले या उसके मां-बाप ढूढ़ दे। उस साथी मे भी आरोग्य आदि गुण होने ही चाहिएं। इस विवाह-नीति का अनुसरण करनेवाले आदमी दुनिया में कहीं भी जाकर देखिए, सुखी ही दिखाई देगे। जो बात बाल-विवाह की है वही वैधव्य की भी है। दुःखरूप वैधव्य विवाह-नीति के भंग से ही उत्पन्न होता है। जहां शुद्ध सच्चा ब्याह हुआ हो वहां वैधव्य या विधुरत्व सहज सुखरूप और शोभारूप होते है। विवाह-सम्बन्ध जहां ज्ञानपूर्वक जोड़ा जाता है वहां यह सम्बन्ध केवल देह का ही नही बल्कि आत्मा का भी होता है। और आत्मा का सम्बन्ध देह छूट जाने पर भी बना रहता है, वह तो कभी भुलाया ही नही जा सकता। जिसे इस

सम्बन्ध का ज्ञान है उसके लिए पुनर्विवाह अनहोनी बात है, अनुचित है, अधर्म है। जिस ब्याह में ऊपर बताए हुए नियमों का पालन न हो उस सम्बन्ध को ब्याह कहना ही न चाहिए। और जहां विवाह नहीं वहां वैधव्य या विधुरत्व जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती। ऐसे आदर्श विवाह अगर हमें अधिक होते हुए नहीं दिखाई देते तो यह उस विवाह की प्रथा का नाश करने का नहीं बल्कि उसे दृढ़ नींव पर स्थापित करने की दलील होनी चाहिए।

सत्य के नाम से असत्य चलानेवालों की संख्या देखकर कोई सत्य में ही दोष निकाले या उसकी अपूर्णता सिद्ध करने का यत्न करे तो हम उसे अज्ञान मानेंगे। वैसे ही विवाह-नीति के भंग के उदाहरणों से उस नीति की निंदा करने का यत्न भी अज्ञान और अविचार का ही लक्षण है।

लेखक का कहना है कि विवाह धर्म या नीति का विषय नहीं है, यह तो एक रूढ़ि या रिवाज भर है, और वह भी धर्म और नीति के विरुद्ध है इसलिए इस लायक है कि उठा दिया जाय। पर मेरी अल्प मति के अनुसार तो विवाह धर्म की रक्षा करनेवाली बाड़ है और वह न रहा तो दुनिया में धर्म नाम की कोई वस्तु भी न रहेगी। धर्म की नींव ही संयम या मर्यादा है। जो आदमी संयमी, परहेजगार नहीं है वह धर्म को क्या समझेगा। पशु की बनिस्बत मनुष्य में वासना-विकार बहुत अधिक है। दोनों के विकारों की तुलना हो ही नहीं सकती। जो आदमी अपनी वासनाओं, विकारों को वश में नहीं रख सकता वह ईश्वर की पहचान कर ही नही सकता। इस सिद्धान्त का समर्थन करने की आवश्यकता ही नहीं। कारण यह कि जो ईश्वर का अस्तित्व अथवा आत्मा और देह की भिन्नता को स्वीकार नहीं करता उसके लिए विवाह-बंधन की आवश्यकता सिद्ध करना कठिन होगा, यह मैं मानता हूं। और जो आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता और उसका विकास करना चाहता है उसे यह समझाने की जरूरत होती ही नहीं कि देह का दमन

किये बिना आत्मा की पहचान या उसका विकास होना अनहोनी बात है। देह या तो स्वच्छंद आचरण का साधन होगी या आत्मा को पहचानने का तीर्थक्षेत्र। अगर वह आत्मा की पहचान करनेवाला तीर्थ स्थान है तो उसमें स्वेच्छाचार के लिए स्थान हो ही नहीं सकता। देह का आत्मा के अधीन करने का प्रयत्न प्रतिक्षण कर्त्तव्य है।

'जन-जमीन-जर' 'झगड़े के घर' वहीं होते हैं जहां संयम-धर्म का पालन नहीं होता। ब्याह की प्रथा को मनुष्य जितना ही आदर-मान देगा स्त्री 'झगड़े का घर' बनने से उतना ही बचेगी। अगर हर एक स्त्री-पुरुष पशु की तरह जब जैसा चाहे आचरण कर सके तो सब मनुष्य आपस में लड़कर एक दूसरे का नाश ही कर डालें। इसलिए मेरी तो यह पक्की राय है कि जिन दोष-दुराचारों का उल्लेख लेखक ने किया है उनकी दवा विवाह-धर्म का छेदन नहीं बल्कि उसका सूक्ष्म निरीक्षण और पालन है।

कहीं स्वजनों और निकट सम्बन्धियों मे ब्याह का सम्बन्ध जोड़ने की इजाजत है, कहीं नहीं, और यह निस्संदेह नीति की भिन्नता है। कहीं एकपत्नी-व्रत का पालन धर्म माना जाता है, कहीं एक साथ कई पत्नियों का पति बनने में प्रतिबंध नहीं होता। नीति मे यह भिन्नता न होना इष्ट है। पर यह भेद हमारी अपूर्णता की सूचना देता है, नीति की अनावश्यकता का नहीं। हमारा अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-त्यों सब जातियों और सब धर्मों के मानने वालों में नीति की एकता पैदा होती जायगी। नीति की सत्ता स्वीकार करने वाला जगत् तो आज भी एकपत्नी-व्रत को ही आदर की दृष्टि से देखता है। कोई भी धर्म यह तो कहता ही नहीं कि अनेक स्त्रियों को पत्नी बनाना पुरुष पर फ़र्ज़ है, इसकी छूट भर वह देता है। देश-काल देखकर किसी बात की इजाजत दे दी जाय तो इससे आदर्श गलत नहीं हो जाता और न आदर्श की भिन्नता ही सिद्ध होती है।

विधवाओं के विषय मे अपने विचार मै अनेक बार प्रकट कर चुका हूं। बाल-विधवा का पुनर्विवाह मै इष्ट मानता हूं। इतना ही नहीं, यह भी मानता हूं कि उसका ब्याह कर देना मा-बाप पर फर्ज है।

: ११ :

वीर्य-रक्षा

कुछ नाजुक मसलों की निजी तौर पर चर्चा करना पसन्द करते हुए भी मुझे प्रकाश्य रूप में उनकी चर्चा करनी पड़ती है। 'यंग इंडिया' के पाठक मुझे इसके लिए माफ करेंगे। पर जिस साहित्य को मुझे मजबूरन सरसरी तौर पर पढ़ लेना पड़ा है और श्री ब्यूरो की पुस्तक पर मेरी आलोचना को लेकर मेरे पास जो पचासों पत्र आये हैं उनके कारण समाज के लिए अति महत्त्वपूर्ण एक प्रश्न की सार्वजनिक रूप में चर्चा करना जरूरी होगया है। एक मलाबारी भाई लिखते हैं—

"श्री ब्यूरो की पुस्तक की आलोचना मे आपने लिखा है कि ब्रह्मचर्य अथवा लबे अरसे तक संयम रखने से किसी की हानि हुई हो, इसकी एक भी मिसाल हमें नहीं मिलती। मुझे खुद अपने लिए तो अधिक-से-अधिक तीन सप्ताह तक संयम रखना ही लाभजनक मालूम होता है। इसके बाद आम तौर से मुझे बदन भारी और मन-शरीर दोनों में बेचैनी मालूम होने लगती है, जिससे मिजाज में भी चिड़चिड़ापन पैदा होजाता है। तभी तबीयत ठिकाने आती है जब स्वाभाविक संयोग द्वारा वीर्य-पात हो जाय या प्रकृति खुद हीव स्वप्न-दोष के रूप में उसका उपाय कर दे। इससे देह या दिमाग मे कमजोरी महसूस करने के बदले सवेरे उठने पर मे अपना दिमाग ठंडा और हलका पाता हू और अपना काम अधिक उत्साह से कर सकता हूं।

"मेरे एक मित्र के लिए तो संयम स्पष्ट रूप से हानिकर सिद्ध हुआ। उनकी उम्र ३२ के लगभग होगी। पक्के शाकाहारी और धर्मनिष्ठ पुरुष हैं। न कोई तन का दुर्व्यसन है न मन का। फिर भी दो साल पहले तक, जब उन्होंने ब्याह किया, रात में स्वप्नदोष होकर, बहुत अधिक

वीर्य-पात हो जाया करता था, जिससे सवेरे तन, मन दोनों बहुत सुस्त, कमजोर मालूम होते थे। कुछ दिन बाद उन्हें पेड़ू में असह्य पीड़ा होने लगी। गांव मे एक वैद्य की सलाह से उन्होंने ब्याह कर लिया और अब भले-चंगे हैं।

"मैं बुद्धि से तो ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता का कायल हूं, जिसके विषय में हमारे सभी प्राचीन शास्त्र एकमत है। पर जो अनुभव मैंने ऊपर लिखा है उससे स्पष्ट है कि हमारी शुक्र-ग्रंथियों से जो वीर्य निकलता है उस सबको पचा लेने की शक्ति हम में नहीं है और वह फाजिल वीर्य विष हो जाता है। अत: आपसे सविनय प्रार्थना है कि मुझ जैसे लोगों के लिए, जिन्हें संयम और ब्रह्मचर्य के महत्त्व में पूर्ण विश्वास है, 'यंग इण्डिया' में हठयोग के आसन जैसा कोई साधन या क्रिया बताने की कृपा करे जिससे हम अपने शरीर में पैदा होनेवाले वीर्य को पचा लेने मे समर्थ हो सकें।"

पत्र-लेखक ने जो मिसालें पेश की है वे सामान्य अनुभव है। ऐसे अनेक उदाहरणों मे मैंने देखा है कि लोग दो-चार अनुभवों को ही लेकर सामान्य नियम बना लेते है। वीर्य को पचा लेने का सामर्थ्य लंबे अभ्यास से प्राप्त होता है। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि इससे हमें तन-मन का जो बल मिलता है वह और किसी साधना से नहीं मिल सकता। दवाएं और ऊपरी उपाय शरीर को मामूली तौर से ठीक रख सकते है। पर मन से वे इतना निर्बल कर देते है कि जो वासनाएं और विकार घातक शत्रु की तरह हर आदमी को सदा घेरे रहते है उनका सामना करने की शक्ति उसमे नहीं रह जाती।

हम अक्सर जो फल चाहते है उनसे उलटे फल देने वाले नहीं तो उनकी प्राप्ति में बाधक होनेवाले कर्म करते है। हमारा जीवन-क्रम वासनाओं की तृप्ति को लक्ष्य मानकर ही बनाया गया है। हमारा भोजन, हमारा साहित्य, हमारा मन बहलाव, हमारा काम करने का समय, सभी इस ढंग से रखे गये हैं कि हमारी पाशव वासनाओं को

उभारें और पोसें। हममें से सैकड़े ६०-६५ लोगों की इच्छा होती है कि ब्याह करें, बाल-बच्चे हों और जीवन का सुख-मर्यादित रूप में ही सही—भोगें। जीवन के अन्त तक यही ढर्रा चलता रहता है।

पर नियम के अपवाद सदा हुए हैं, आज भी हैं। ऐसे लोग भी हुए हैं और हैं जो अपना संपूर्ण जीवन मानव जाति की सेवा में लगा देना चाहते थे। मानव जाति की सेवा भगवान् की भक्ति का समानार्थक है। वे अपने विशेष कुटुम्ब के पालन-पोषण और विश्व कुटुम्ब की सेवा में अपने समय का बटवारा करना नहीं चाहते। निश्चय ही ऐसे स्त्री-पुरुषों के लिए वह साधारण जीवन-क्रम रखना संभव नहीं जो विशेष, वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति को उद्देश्य मानकर बनाया गया है। जो भगवान् को पाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लेगा उसे जीवन की लगाम ढीली कर देने से मिलनेवाले सुखों का मोह छोड़ना ही होगा और इस व्रत के कड़े बंधनों में ही सुख मानना होगा। वह दुनिया में रहे भले ही, पर उसका होकर नहीं रहेगा। उसका भोजन, उसका काम-धंधा, उसके काम करने का समय, उसके मन बहलाव के साधन, उसका साहित्य, जीवन के प्रति उसकी दृष्टि, सभी साधारण जन-समुदाय से भिन्न होंगे।

अब हम यह पूछ सकते हैं कि पत्र-लेखक और उनके मित्र ने क्या पूर्ण ब्रह्मचारी बनने का संकल्प किया था और किया था तो अपने जीवन के ढंग को उस साचे मे ढाल लिया था? अगर यह नहीं किया था तो यह समझना कठिन नहीं कि क्यों एक को वीर्य-पात से आराम मिलता था और दूसरे को उससे सुस्ती-कमजोरी पैदा होती थी। ब्याह निस्संदेह दूसरे के लिए दवा था। उन लाखों-करोड़ों आदमियो के लिए भी वह परम स्वाभाविक और इष्ट अवस्था है जिनका मन उनके न चाहने पर भी सदा ब्याह और विवाहित जीवन की बातें सोचा करता है। न दबाए हुए पर अमूर्त विचार की शक्ति उस विचार से कहीं अधिक होती है जो मूर्तिमान हो चुका हो, अर्थात् कार्यरूप प्राप्त कर चुका हो। और जब कर्म पर समुचित अंकुश रखा जाता है तब वह खुद

विचार पर ही असर डालने और उसे ठीक रास्ते पर लगाने लगता है। इस रीति से कार्य रूप प्राप्त करने वाला विचार बन्दी बनकर हमारे वश में आ जाता है। इस दृष्टि से देखिए तो ब्याह भी संयम का एक प्रकार ही है।

जो लोग संयम का जीवन बिताना चाहते हैं उन्हें ब्यौरेवार हिदायतें एक छोटे-से अखबारी लेख में नहीं दी जा सकती। ऐसे लोगों को तो मैं अपनी छोटी-सी पुस्तक 'आरोग्यविषयक सामान्यज्ञान' पढ़ जाने की सलाह दूंगा, जो इसी उद्देश्य को लेकर कुछ बरस पहले लिखी गई थी। नये अनुभवों की दृष्टि से उसके कुछ अंशों को दुहराने की जरूरत जरूर हो गई है, पर उसके एक भी शब्द को मैं वापस लेने के लिए तैयार नहीं हूं। फिर भी संयम-पालन के सामान्य नियम यहां बताये जा सकते हैं—

१. मिताहारी बनिए, सदा थोड़ी भूख बाकी रहते ही चौके पर से उठ जाइए।

२. अधिक मिर्च-मसाले वाली और अधिक घी-तेल में तली-पकी साग-भाजियों से परहेज रखिए। जब दूध काफी मिलता हो तो अलग से घी तेल खाने की जरूरत बिलकुल नहीं होती। और जब वीर्य का व्यय बहुत थोड़ा होता है तब थोड़ा भोजन भी काफी होता है।

३. तन-मन दोनों को सदा सुथरे कामों में लगाये रखिए।

४. जल्दी सोने और जल्दी उठने का नियम जरूरी चीज है।

५. सबसे बड़ी बात यह है कि संयम का जीवन बिताने के लिए भगवान् के पाने, उनसे सायुज्य-लाभ की उत्कट जीती-जागती इच्छा होना पहली शर्त है। हृदय जब इस बुनियादी बात का अनुभव करने लगेगा तब यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जायगा कि भगवान् अपने इस औजार को खुद साफ-सुथरा और काम देने लायक बनाये रखेंगे। गीता कहती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

और यह अक्षरशः सत्य है।

पत्र-लेखक आसन और प्राणायाम की बातें करते हैं। मैं मानता हूं कि संयम के पालन में आसन-प्राणायाम का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पर मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस विषय में मेरा अनुभव इस लायक नहीं कि लिखा जाय। जहांतक मैं जानता हूं, इस विषय पर ऐसा साहित्य नहीं के बराबर ही है जिसका आधार इस जमाने का अनुभव हो। पर यह क्षेत्र अन्वेषण करने योग्य है। मगर मैं अनुभवहीन पाठकों को यह चेतावनी दूंगा कि वे इसके प्रयोग न करें और न जो कोई हठ-योगी उन्हें मिल जाय उसको गुरु बना लें। उन्हें यह विश्वास रखना चाहिए कि संयमयुक्त और धर्मनिष्ठ जीवन ब्रह्मचर्य के प्रति अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त है।

: १२ :

मनोवृत्तियों का प्रभाव

एक भाई लिखते है--

''जनन-निरोध के विषय पर 'यंग इंडिया' में आपने जो लेख लिखे है उन्हें मै बड़े चाव से पढ़ता रहा हू । आशा है, आपने जे० ए० हैड-फील्ड की पुस्तक 'साइकालोजी एंड मारल्स (मानस-शास्त्र और नीति) पढ़ी होगी । मै उसके इन वाक्यों की ओर आपका ध्यान खीचना चाहता हूं—'काम-वासना की अभिव्यक्ति जब हमारी नीति-भावना के प्रतिकूल होती है तो हम उसे रति-सुख कहते है और जब वह हमारी प्रेम-भावना के अनुकूल होता है तब हम उसे काम-जनित आनन्द कहते है । काम-वासना की यह अभिव्यक्ति या तृप्ति पति-पत्नी के परस्पर प्रेम को नष्ट न करके उसको और गाढ़ा करती है। पर संयमरहित सभोग और काम-वासना की तृप्ति हेय सुख है, इस भ्रम से किया जानेवाला इन्द्रिय-दमन दोनों अक्सर मिजाज में चिड़चिड़ापन पैदा करते और प्रेम का शिथिल कर देते हैं।' अर्थात्, लेखक यह मानता है कि संभोग सन्तानो-त्पादन के अतिरिक्त पति-पत्नी के परस्पर प्रेम को भी अधिक पुष्ट और दृढ़ करता है, इसलिए वह एक धार्मिक संस्कार या क्रिया जैसा है और लेखक की बात ठीक हो तो केवल सन्तानोत्पादन के लिए किया जाने वाला ही संभोग जायज है--अपने इस सिद्धान्त का समर्थन आप किस तरह करेंगे, यह जानने की मुझे उत्सुकता है । मैं खुद तो लेखक की राय को ठीक ही मानना चाहता हूं क्योंकि वह मानस-शास्त्र के एक प्रमुख पंडित की राय तो है ही, मैं खुद भी ऐसे लोगों को जानता हूं जिनका दाम्पत्य-जीवन प्रेम-भावना की शरीर-संग के रूप में व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा के दमन की कोशिश से विकृत और नष्ट हो

गया है। एक मिसाल लीजिये। एक युवक और एक यवती एक दूसरे को प्यार करते हैं। पर उनके पास इतना पैसा नहीं कि बच्चे के पालन-पोषण और पढ़ाने-लिखाने का बोझ उठा सकें। यह तो आप भी जानते ही होंगे कि इस सामर्थ्य के बिना बच्चा पैदा करना पाप है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि बच्चा पैदा करना स्त्री की तन्दुरुस्ती के लिए खराब होगा या उसके पास यों ही जरूरत से ज्यादा बच्चे हैं। अब आपके मतानुसार इस जोड़े के लिए दो ही रास्ते हैं— या तो वे ब्याह करें और अविवाहित की तरह अलग-अलग रहें या अविवाहित रहें। पहली हालत में हैडफील्ड की बात सही हो तो वासना के दमन के कारण उनमें चिड़चिड़ापन पैदा होगा और उनका प्रेम नष्ट होगा। दूसरी सूरत में भी वह नष्ट होगा, क्योंकि प्रकृति हमारी मानव-व्यवस्थाओं का कतई लिहाज नहीं करती। यह बेशक हो सकता है कि वे एक दूसरे से जुदा हो जायं। पर इस बिलगाव में भी मन तो अपना काम करता रहेगा। अतः वासना के दमन से मानस विकृतियां उत्पन्न होंगी। और अगर समाज-व्यवस्था को बदलकर ऐसी कर दें कि हर आदमी अधिक-से-अधिक बच्चों का बोझ उठानें में समर्थ हो जाय। तो भी जाति के लिए अति वंश-वृद्धि और स्त्री के लिए अति प्रसव का खतरा तो बना ही रहेगा। कारण यह कि पुरुष अतिशय संयम करते हुए भी साल-भर में एक बच्चे का बाप तो बन ही जायगा। अतः आप या तो ब्रह्मचर्य का समर्थन करें या जनन-निरोध का। क्योंकि यदा-कदा के समागम का अर्थ भी प्रतिवर्ष एक सन्तान की प्राप्ति हो सकती है और जैसा कि कभी-कभी अंग्रेज पादरियों के यहां होता है, यह पति के लिए तो भगवान् का प्रसाद होगा, पर बेचारी पत्नी के लिए मौत के मुंह में बैठना हो सकता है।

आप जिसे संयम कहते हैं वह भी प्रकृति के काम में उतना ही हस्त-क्षेप है जितना गर्भ-निरोध के कृत्रिम साधन; बल्कि उससे बड़ा हस्त-

क्षेप है। गर्भ-निरोध के साधनों की बदौलत मनुष्य विषय-भोग में अति कर सकता है। और यह वह करेगा निःशंक चित्त से। और अगर वह अपने-आपको बच्चों की पैदायश का कारण नहीं बनने देता तो उस पाप का फल वह खुद ही भुगतेगा, और किसी को वह न भुगतना होगा। याद रखिये, खानों के मजदूरों और मालिकों में आज जो संघर्ष हो रहा है उसमें अन्त में मालिक ही जीतेंगे, क्योंकि मजदूरों की संख्या बहुत बड़ी है। बहुत अधिक बच्चे पैदा करने वाले बच्चों का ही अहित नहीं करते, मानव जाति का भी करते हैं।"

यह पत्र मेरे लिए मनोवृत्तियां और उनके प्रभाव का अध्ययन है। एक आदमी का मन रस्सी को सांप मान लेता है। वह भय से सुन्न हो जाता और बदहवास होकर भागता है, या फिर मनःकल्पित सांप को मारने के लिए लाठी उठाता है। दूसरा बहन को पत्नी मान लेता है और उसकी काम-वासना जाग जाती है। पर ज्यों ही उसे अपना भ्रम मालूम हो जाता है, त्यों ही वासना शान्त हो जाती है।

यही बात लेखक के रचे हुए उदाहरण के भी विषय में है। बेशक, काम-वासना की तृप्ति हेय सुख है इस भ्रम से किया जानेवाला इन्द्रिय-दमन मिजाज में चिड़चिड़ापन पैदा होने और प्रेम के शिथिल होने का कारण हो सकता है। पर अगर इन्द्रिय-संयम प्रेम को विशुद्ध बनाने, प्रेम-बन्धनको अधिक दृढ़ करने और वीर्य को अधिक अच्छे प्रयोजन के लिए बचा रखने के उद्देश्य से किया जाय तो वह प्रेम की गांठ को ढीली करने के बदले उसे और दृढ़ करेगा। जिस प्रेम का आधार विषय-वासना की तृप्ति हो वह कितना ही उत्कट हो, फिर भी होगा स्वार्थ का सौदा ही और हलके-से-हलके झटके को भी बर्दाश्त न कर सकेगा। और समागम जब पशुओं के लिए संस्कार या धार्मिक विधान नहीं है तब मानव जगत् में ही उसे यह पद क्यों दिया जाय? हम उसे वहा क्यों न मानें जो वह वास्तव में है—वंश-रक्षा के उद्देश्य से किया जानेवाला प्रजोत्पादन, जो हमसे बरबस कराया जाता है? मनुष्य को ईश्वर ने संकल्प या

इच्छा की थोड़ी-सी स्वतन्त्रता दे रखी है, इसलिए केवल वही पशु-पक्षियों के जीवन की अपेक्षा जिस अधिक ऊंचे प्रयोजन के लिए उसका जन्म हुआ है उसकी सिद्धि के लिए अपनी भोगेच्छा को रोकने, दबाने में अपने मानव-अधिकार को काम में ला सकता है। संभोग प्रेम को न बढ़ाता है और न उसे बनाये रखने या उसके पोषण-वर्द्धन के लिए किसी तरह आवश्यक है। इसके अगणित अनुभव होते रहने पर भा जो उसे प्रेम-बन्धन को अधिक दृढ़ करने के लिए आवश्यक और इष्ट मानते हैं वह महज इसलिए कि ऐसा सोचने-मानने की हमें आदत लग गई है। ऐसे कितने ही उदाहरण बताये जा सकते हैं जिनमें संयम से प्रेम का बन्धन और दृढ़ हुआ है। हां इतना जरूर है कि संयम अपनी इच्छा से किया जाय, किसी बाहरी दबाव से नहीं, और पति-पत्नी दोनों को नीति के अधिक ऊंचे स्तर पर ले जाने के लिए किया जाय।

मानव-समाज सदा बढ़ती रहने वाली वस्तु है, आध्यात्मिक दृष्टि से उसका सतत विकास हो रहा है। यह बात सच है तो पशु-वासना का दिन-दिन अधिक निग्रह ही उसका आधार होना चाहिए। इस दृष्टि से विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानना होगा जो पति-पत्नी दोनों को अनुशासन के बन्धन में बांधता है, उन पर यह फर्ज कर देता है कि वे तीसरे के साथ शरीर-संग न करें। परस्पर शरीर-संग की इजाजत भी, केवल संतान की कामना से हो तथा पति-पत्नी दोनों उसे चाहते हों और उसके लिए तैयार हों, तभी देता है। पत्र-लेखक ने जो दो स्थितियां बताई हैं उन दोनों में सन्तान की कामना के बिना संभोग का सवाल नहीं उठता।

अगर हम यह मान लें, जैसा कि पत्र लिखने वाले भाई ने किया है, कि सन्तति-प्राप्ति के उद्देश्य के बिना भी संभोग आवश्यक कार्य है तो बहस-दलील की गुंजाइश ही नहीं रहती। पर यह दावा टिक नहीं सकता, क्योंकि दुनिया के हर हिस्से में कुछ सर्वश्रेष्ठ पुरुषों के पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन की पक्की नजीरें पेश की जा सकती हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करना अधिकांश मनुष्यों के लिए कठिन है तो यह बात उसके शक्य

या इष्ट न मानने की दलील नहीं हो सकती। सौ साल पहले अधिकांश जनों के लिए जो बात शक्य न थी आज उसकी शक्यता सिद्ध होरही है। और सीमा-रहित प्रगति के लिए जो काल का बिना ओर-छोर वाला मैदान हमारे सामने खुला है उसमें १०० साल की भुगत ही क्या है? वैज्ञानिकों का कहना अगर सही है तो हमें आदमी का चोला मिलना अभी कल की ही बात तो है? उसकी शक्ति की सामाएं कौन जानता है, कौन बांध सकता है? सोच तो यह है कि उसमें भला-बुरा करने की असीम शक्ति है इसके नित नये प्रमाण हमें मिलते जारहे हैं।

संयम का शक्य और इष्ट होना मान लिया जाय तो उसके पालन के उपाय हमें ढूंढ़ने और निकालने ही होंगे। और जैसा कि मैं किसी पिछले लेख में कह चुका हूं अगर हमें संयम और नीति-बंधन के अंदर रहना है तो हमें अपना जीवन-क्रम बदलना ही होगा। लड्डू हमारे पेट में पहुंच जाय और हाथ पर भी बना रहे, यह असम्भव प्रयत्न हमें न करना चाहिए। हम जननेंद्रिय का नियमन करना चाहते हैं तो हमें और सभी इन्द्रियों पर अंकुश रखना होगा। आंख, कान, नाक, जीभ, हाथ और पांव की लगाम ढीली कर दी जाय तो जननेन्द्रिय को काबू में रखना असंभव होगा। चिड़चिड़ापन, हिस्टीरिया, या मूर्छा रोग, और पागलपन को भी ब्रह्मचर्य-पालन के प्रयत्न का परिणाम बताना गलत है। पता लगाया जाय तो ये रोग अधिकांश में इंद्रियों के असंयम के ही फल होते हैं। किसी भी पाप-प्रकृति के नियम के किसी भी उल्लंघन का दण्ड हमें न मिले यह नहीं हो सकता।

मुझे शब्दों के लिए झगड़ा नहीं करना है। इंद्रिय-संयम भी अगर गर्भ-विरोध के साधनों के समान ही प्रकृति के काम में हस्तक्षेप है तो हुआ करे। मैं तब भी कहूंगा कि हस्तक्षेप जायज़ और इष्ट है, क्योंकि वह व्यक्ति और समाज दोनों का हित करता है, और दूसरा हस्तक्षेप दोनों के पतन का कारण होता है इसलिए नाजायज है। संयम सन्तति-

नियमन का एक-मात्र उपाय है, गर्भाधान-निरोधक साधनों की सहायता से बच्चों का पैदा होना रोकना जाति का आत्म-घात है।

खान-मालिक अगर अन्याय के रास्ते पर चलते हुए भी विजयी होंग तो इसलिए नहीं कि मजदूरों के घर जरूरत से ज्यादा बच्चे पैदा हो रहे हैं, बल्कि इसलिए कि मजदूरों ने संयम का पाठ पूरे तौर पर नहीं पढ़ा। बच्चे न हों तो खान-मजदूरों के जीवन में कोई बात ही न रहेगी जो उन्हें अपनी दशा सुधारने की प्रेरणा करे, और न मजदूरी बढ़ाने की मांग के लिए कोई उचित कारण रहेगा। क्या उन्हें शराब, तंबाकू पीना, जुआ खेलना चाहिए? क्या यह कहना इसका कोई जवाब होगा कि खानों के मालिक ये सभी बातें करते हैं और फिर भी उन पर हावी रहते हैं? मजदूर अगर पूंजीपतियों से अच्छे होने का दावा नहीं कर सकते तो उन्हें दुनिया की हमदर्दी मांगने का क्या हक़ है? इसीलिए कि पूंजीपतियों की संख्या बढ़े और पूंजीवाद की जड़ और मजबूत हो? हमें यह आशा दिलाकर लोकतन्त्र की पूजा करने को कहा जाता है कि दुनिया में उसका राज होने पर हमें अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। अतः जिन बुराइयों को हम पूंजीपति अगर पूजीवाद की देन बताते हैं उन्हें बड़े पमाने पर करने का दोषी हमें नहीं बनना चाहिए।

मैं जानता हूं और यह मेरे लिए दुःख की बात भी है कि इंद्रिय-निग्रह आसान काम नहीं है। पर इस साधना की धीमी प्रगति से हमें घबराना न चाहिए। 'उतावला सो बावला'। अधीरता से मजदूरी पेशा वर्ग में बहुत अधिक बच्चे पैदा होने की बुराई नहीं दूर होने की। इस वर्ग में काम करने वाले जन-सेवकों के सामने एक विशाल कार्य करने से पड़ा है। उन्हें चाहिए कि मानव जाति के सबसे बड़े शिक्षकों ने अपने अनुभव की अमूल्य निधि से हमें जो संयम का पाठ पढ़ाया है उसे अपने जीवन-क्रम से बाहर न कर दे। जीवन की जिन मूलभूत सचाइयों की विरासत उन्होंने हमें सौंपी है उनकी परीक्षा जिस प्रयोगशाला

में हुई है वह आज की नये-से-नये साधनों उपकरणों से संपन्न प्रयोगशाला से अधिक अच्छी थी। संयम को उन सभी ने हमारे लिए जरूरी बताया है।

:१३:

धर्म-संकट

"मैं विवाहित हूं। १० साल का हो चुका हूं। पत्नी की उम्र भी लगभग यही होगी। हमें पांच बच्चे हुए थे जिनमें से दो सौभाग्यवश परलोक सिधार चुके हैं। बाकी बच्चों के बारे में मेरी क्या जिम्मेदारी है इसे मैं समझता हूं। पर उस फर्ज को पूरा करना मुझे नामुमकिन नहीं तो अति कठिन अवश्य दिखाई देता है। आपने संयम की सलाह दी है। पिछले तीन साल से मैं उसका पालन कर रहा हूं, पर अपनी सहधर्मिणी की इच्छा के विरुद्ध ऐसा कर रहा हूं। साधारण मनुष्य जिसे जीवन का सुख कहते हैं वह उसे भोगने का आग्रह करती है। आप अपने ऊंचे आसन से उसे पाप कह सकते हैं, पर मेरी जीवन-संगिनी उसे इस दृष्टि से नहीं देखती। अधिक बच्चे पैदा करने से भी वह नहीं डरती। अपने दायित्व के जिस ज्ञान का मुझे गर्व है वह उसको नहीं है। मेरे मां-बाप अधिकतर पत्नी का ही पक्ष करते हैं, और रोज ही घर में झगड़ा होता रहता है। काम-वासना की तृप्ति न होने से पत्नी का मिज़ाज इतना चिड़चिड़ा और बिगड़ैल हो गया है कि जरा-जरा सी बात पर भड़क उठती है। अब मेरे सामने यह सवाल है कि इस मुश्किल को कैसे हल करूं। जितने बच्चे अभी हैं वही मेरे लिए अधिक हैं। मैं इतना गरीब हूं कि उनका ही पालन-पोषण ठीक तौर से नहीं कर सकता। पत्नी को समझाना नामुमकिन दिखाई देता है। जो तृप्ति वह चाहती है वह न मिली तो मुमकिन है वह बुरा रास्ता पकड़ ले, पागल हो जाय या आत्म-घात कर ले। सच कहता हूं, कभी-कभी जी में आता है कि देश का कानून इजाजत देता. तो सभी अनचाहे बच्चों को गोली मार देता, जैसा आप लावारिस कुत्तों के साथ करेंगे। इधर तीन

महीने से किसी दिन मुझे दूसरे दिन रोटी न मिली, तीसरे पहर का नाश्ता भी नसीब नहीं हुआ। काम-धंधे की जिम्मेदारियां ऐसी हैं कि लगातार कई दिन उपवास भी नहीं चल सकता। पत्नी को मेरे कष्ट से हमदर्दी नहीं, क्योंकि वह मुझे ढोंगी समझती है। जनन-निरोध विषयक साहित्य से मेरा परिचय है। वह लुभाने वाली भाषा में लिखा गया है। ब्रह्मचर्य विषय पर लिखित आपकी पुस्तक भी पढ़ी है। मेरे लिए एक ओर कुआं है तो दूसरी ओर खाई।"

यह एक युवक के लिखे हुए हृदय-विदारक पत्र का अविकल भावार्थ है। लेखक ने अपना पूरा नाम-पता दिया है। मैं उसे कई बरस से जानता हूं। वह अपना नाम देते हुए डरते थे इसलिए इसके पहले दो बार मुझे गुमनाम पत्र लिखा। उन्हें आशा थी कि मैं 'यंग इंडिया' में उनकी चर्चा करूंगा। इस तरह के गुमनाम पत्र मेरे पास इतने आते हैं कि उनकी चर्चा करने मे मुझे संकोच होता है। मुझे तो इस पत्र पर कुछ लिखने में भी झिझक हो रही है, गोकि मैं जानता हूं कि उसकी बातें सोलह आने सही हैं, और वह ऐसे आदमी का लिखा हुआ है जो संयम के रास्ते पर चलने की सच्चे दिल से कोशिश कर रहा है। विषय बहुत ही नाजुक है। पर मेरा दावा है कि मुझे ऐसे मामलों का काफी अनुभव है और मैंने यह भी देखा है कि ऐसी कठिनाइयों में पड़े हुए लोगों को मेरे बताए हुए उपाय से राहत मिली है, इसलिए मै इस स्पष्ट कर्त्तव्य के पालन से मुंह नहीं मोड़ सकता।

जहां तक अंग्रेजी पढ़े हुए भारतीयों का सवाल है भारत की स्थिति हमारे लिए दुहरी कठिनाई पैदा करती है। सामाजिक योग्यता की दृष्टि से पति और पत्नी में तना अन्तर होता है जिसे मिटाना एक तरह से असंभव ही है। कुछ युवक संभवतः यह सोचते हैं कि पत्नी को उसके मन पर छोड़ देने से ही हमारा मसला हल हो गया, हालांकि वे जानते हैं कि उनकी बिरादरी में तलाक़ नहीं दिया जाता इसलिए उनकी पत्नी के लिए दूसरा ब्याह कर लेना शक्य नहीं। दूसरे लोग—और यही वर्ग

सबसे बड़ा है—अपनी पत्नियों को अपने मानस-जीवन का साथी न बना कर केवल विषय-सुख भोगने का साधन मानता है। बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं—अवश्य ही उनकी संख्या दिन-दिन बढ़ रही है—जिनकी अन्तरात्मा जाग चुकी है और जो उसी धर्म-संकट में पड़े हैं जो पत्र लिखनेवाले भाई के सामने उपस्थित है।

मेरी राय में स्त्री-पुरुष का समागम तभी जायज माना जायगा जब दोनों उसे चाहते हों। मैं नहीं मानता कि पति या पत्नी किसी को भी यह हक हासिल है कि दूसरे को अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए मजबूर करे। और जिस दम्पति का प्रश्न तत्काल हमारे विचार का विषय है उसके बारे में मेरी स्थिति ठीक हो तो पत्नी के आग्रह के सामने झुकना किसी तरह पति का नैतिक कर्त्तव्य नहीं है। पर यह इनकार पति के सिर पर ज्यादा बड़ी और ऊंची जिम्मेदारी लाद देता है। वह अपने आपको बड़ा साधक-संयमी समझकर पत्नी को हेय दृष्टि से न देखे, बल्कि नम्रता के साथ यह स्वीकार करे कि जो बात उसके लिए अनावश्यक है वह पत्नी के लिए प्रकृति का आदेश है। इसलिए वह उसके साथ बहुत ही स्नेह और मृदुता का व्यवहार करे और मन में यह विश्वास रखे कि उसकी अपनी पवित्रता पत्नी की काम-वासना को उच्चतम प्रकार की शक्ति में बदल देगी। वह अपनी पत्नी का सच्चा मित्र, पथ-प्रदर्शक और उसका दुख-दर्द दूर करने वाला होगा। अपनी पत्नी में उसे पूरा विश्वास रखना होगा और अटूट धैर्य के साथ उसे यह समझाना होगा कि नीति का कौन-सा तत्त्व उसके आचरण का आधार है। पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्ध का सच्चा रूप और विवाह का सच्चा अर्थ क्या है। यह करते हुए वह देखेगा कि बहुत-सी बातें जो पहले उसके लिए स्पष्ट नहीं थीं अब स्पष्ट होगई, और उसका संयम सच्चा होगा तो पत्नी के हृदय को वह अपने और भी निकट खींच लेगा।

प्रस्तुत मामले में मुझे कहना ही होगा कि केवल अधिक बच्चे पैदा

होने का डर पत्नी की संभोगेच्छा तृप्त करने में इनकार करने का यथेष्ट कारण नहीं हो सकता। केवल बच्चों का भार उठाने के डर से पत्नी के संभोग-प्रस्ताव को अस्वीकार करना मुझे तो कायरपन-सा लगता है। कुटुम्ब की बेहिसाब बाढ़ रोकना पति-पत्नी के अलग-अलग और संयुक्त रूप से अपनी काम-वासना पर अंकुश रखने के लिए अच्छा कारण है, पर वह अपने जीवन-संगी से साथ सोने का अधिकार छीनने के लिए यथेष्ट कारण नहीं हो सकता।

और फिर बच्चों से इतनी घबराहट किसलिए ? ईमानदार, मेहनती और समझदार आदमी निश्चय ही इतना पैसा कमा सकता है कि तीन-चार बच्चों के भरण-पोषण का बोझ उठा ले। मैं यह मानता हूं कि प्रस्तुत पत्र-लेखक जैसे पुरुष के लिए जो अपना सारा समय देश की सेवा में लगा सकने की सच्चे दिल से कोशिश कर रहा है, यह कठिन होगा कि एक बड़े और बढ़ते हुए कुटुम्ब का भरण-पोषण करे और साथ-साथ स्वदेश की सेवा भी करता चले जिसकी करोड़ों सन्तानों को आधे पेट खाकर रहना पड़ता है। इन पृष्ठों में अक्सर मैंने यह बात लिखी है कि हिन्दुस्तान जब तक गुलाम है तब तक बच्चे पैदा करना उचित नहीं। पर यह युवकों और युवतियों के अविवाहित रहने के लिए तो बहुत अच्छा कारण है, किन्तु विवाहित स्त्री-पुरुष के लिए एक दूसरे के साथ दाम्पत्य असहयोग करने का निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता। हां, जब शुद्ध धर्मभाव से, अन्तर से ब्रह्मचर्य पालन की ऐसी पुकार उठे कि उसे अनसुनी करना नामुमकिन हो तब यह असहयोग जायज होता है बल्कि कर्तव्य हो जाता है। और यह पुकार जब सच्ची होगी तो दूसरे साथी पर भी इसका बहुत अच्छा असर होगा। वह समय से उस पर वैसा असर न डाल सका तो भी ब्रह्मचर्य-पालन कर्तव्य होगा, भले ही इसमें अपने साथी का दिमाग खराब हो जाने या उसके मर जाने का भी खतरा हो। सत्य की साधना और स्वदेश की सेवा के लिए जैसे बलिदान अपेक्षित है। ब्रह्मचर्य की साधना भी वैसे ही वीरोचित बलिदान मांगती है। इतना कह चुकने

के बाद यह कहने की आवश्यकता शायद ही बाकी रहती हो कि कृत्रिम उपायों से संतानोत्पादन रोकना नीति-नाशक आचरण है और जीवन का जो आदर्श मेरे तर्क का आधार है उसमें इसके लिए स्थान नहीं है।

: १४ :

मेरा व्रत

भलीभांति चर्चा कर लेने और गहरे सोच-विचार के अनन्तर १९०६ ई० में मैंने ब्रह्मचर्य व्रत लिया। व्रत लेने के समय तक मैंने धर्मपत्नी की राय इस विषय में नहीं ली थी। व्रत लेते समय ली। उसकी ओर से कुछ भी विरोध नहीं हुआ।

यह व्रत लेते हुए मुझे बहुत कठिन जान पड़ा। मेरी शक्ति अल्प थी। वासनाओं को दबाना कैसे हो सकेगा? अपनी पत्नी के साथ भी सविकार सम्बन्ध न रखना कुछ विचित्र-सी बात लग रही थी। फिर भी यही मेरा कर्त्तव्य है, यह मैं साफ देख सकता था। मेरी नीयत शुद्ध थी। अतः भगवान् बल देगा यों सोचकर मैं कूद पड़ा।

आज बीस बरस बाद उस व्रत को याद करके मुझे आनन्दजनक आश्चर्य होता है। संयम के पालने की भावना तो १९०१ से प्रबल हो रही थी और मैं उसका पालन कर भी रहा था। पर जो स्वतन्त्रता और आनन्द मुझे अब मिलने लगा वह १९०६ के पहले कभी मिला हो यह मुझे याद नहीं आता। कारण यह कि उस समय मैं वासना से बंधा था। किसी भी क्षण उसके वश हो जा सकता था। अब वासना मुझ पर सवारी गांठने में असमर्थ हो गई।

इसके सिवा अब ब्रह्मचर्य की महिमा मैं अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फिनिक्स में लिया। घायलों की सेवा के काम से छुट्टी पाकर मैं फिनिक्स गया था। वहां से मुझे तुरंत जोहान्सबर्ग जाना था। मैं वहां गया और एक महीने के अंदर ही सत्याग्रह-संग्राम की नींव पड़ी। माना यह ब्रह्मचर्य व्रत मुझे उसके लिए तैयार करने को ही आया हो! सत्याग्रह की योजना मैंने पहले से नहीं बना रखी थी। उसकी उत्पत्ति

तो अनायास और बिना हमारे चाहे हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले के मेरे सभी काम—फिनिक्स जाना, जोहान्सबर्ग का भारी घर खर्च घटा डालना, और अन्त में ब्रह्मचर्य व्रत लेना मानो उसकी तैयारी थे।

ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ है ब्रह्म का साक्षात्कार। यह ज्ञान मुझे शास्त्र से नहीं मिला था। यह अर्थ मेरे लिए धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। इससे सम्बद्ध शास्त्र-वचन तो मैंने पीछे पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर की रक्षा, बुद्धि की रक्षा, आत्मा की रक्षा है, व्रत लेने के बाद मैं इस बात का दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा। कारण यह कि अब ब्रह्मचर्य को घोर तपश्चर्या रूप न रहने देकर रसमय बनाना था; इसी के सहारे चलना था। अतः अब उसमें मुझे नित्य नई खूबियों के दर्शन होने लगे।

पर मैं जो यों ब्रह्मचर्य से रस लूट रहा था उससे कोई यह न समझ ले कि उसकी कठिनता का अनुभव मुझे नहीं हो रहा था। आज मेरे ५६ साल पूरे हो चुके हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह असि-धारा व्रत है, इस बात को दिन-दिन अधिकाधिक समझ रहा हूं। निरन्तर जाग्रत रहने की आवश्यकता देख रहा हूं।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय 'जीभ' को वश में करना ही होगा। मैंने खुद अनुभव कर के देखा कि जीभ को जीत ले तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत आसान हो जाता है। इसलिए मेरे इसके बाद के भोजन विषयक प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं बल्कि ब्रह्मचर्य की दृष्टि से भी होने लगे। मैंने प्रयोग करके देख लिया कि हमारी खूराक थोड़ी सादी और बिना मिर्च-मसाले की होनी चाहिए और प्राकृतिक अवस्था में खाई जानी चाहिए। अपने विषय में तो मैंने छः वर्ष तक प्रयोग करके देख लिया है कि ब्रह्मचर्य का आहार वनपक्व फल हैं। जिन दिनों मैं सूखे या रसदार वनपक्व फल खाकर रहता था उन दिनों में अपने आप में जो निर्विकारता पाता था उस खुराक को बदल देने के बाद उसका अनुभव न हो सका। फलाहार के समय ब्रह्मचर्य सहज था। दुग्धाहार

से वह कष्ट-साध्य हो गया है। फलाहार से दुग्धाहार पर मुझे क्यों जाना पड़ा---इसकी चर्चा उचित स्थान पर की जायगी। यहां तो इतना कहना काफी है कि दूध का आहार ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नकारक है, इस विषय में मुझे तनिक भी शंका नहीं। इस कथन से कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध का त्याग आवश्यक है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर कितना होता है इस विषय में बहुत प्रयोग करने की आवश्यकता है। मुझे अब तक कोई ऐसा फलाहार नहीं मिला जो स्नायुओं को पुष्ट करने और आसानी से पचने में दूध की बराबरी कर सके; कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर भी नहीं बता सका। इसलिए दूध विकार पैदा करने वाली चीज है यह जानते हुए फिलहाल मैं किसी को उसके त्याग की सलाह नहीं दे सकता।

बाह्य उपचारों में जैसे आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है वैसे ही उपवास को भी समझना चाहिए। इंद्रियां इतनी बलवान हैं कि उन पर चारों ओर से, ऊपर और नीचे से, दशों दिशाओं से घेरा डाला जाय, तभी काबू में रहती हैं। यह तो सभी जानते हैं कि आहार के बिना वे अपना काम नहीं कर सकती। इसलिए इन्द्रिय-दमन के उद्देश्य से इच्छा पूर्वक किये हुए उपवास से इन्द्रियों को काबू में लाने में बहुत मदद मिलती है, इस विषय में मेरे मन में तनिक भी शंका नहीं। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी विफल होते हैं। इसका कारण यह है कि वे यह मान लेते हैं कि उपवास से ही सब कुछ हो जायगा और शरीर से स्थूल उपवास-मात्र करते हैं, पर मन से छप्पन भोग भोगते रहते हैं। उपवास के दरमियान, उपवास समाप्त होने पर क्या-क्या खायेंगे, इस कल्पना का स्वाद हम लिया करते हैं, और फिर शिकायत करते हैं कि उससे न जीभ वश में आई न जननेन्द्रिय! उपवास का सच्चा उपयोग वहीं है जहां मन भी देह दमन में साथ देता है, अर्थात् मन में विषय-भोग के प्रति विरक्ति हो जाना चाहिए। विषय-वासना की जड़ें तो मन में ही होती हैं। उपवासादि साधनों से बहुत सहायता

मिलती है, फिर भी वह मात्रा में थोड़ी ही होती है। कह सकते हैं कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयों में आसक्त रह सकता है। पर उपवास के बिना विषयासक्ति का जड़-मूल से जाना संभव नहीं। अतः उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य-पालन का प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे निष्फल होते हैं। इसका कारण यह है कि खाने-पीने, देखने-सुनने में वे अब्रह्मचारी के जैसे रहते हुए भी ब्रह्मचर्य निभाना चाहते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही है जैसी गरमी के मौसिम में शीतकाल का अनुभव करने की कोशिश, संयमी और स्वच्छंद, त्यागी और भोगी के जीवन में भेद होना ही चाहिए। साम्य केवल ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है। दोनों का भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आंख का उपयोग दोनों करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है। भोगी नाटक सिनेमा में लीन रहता है। कान से दोनों काम लेते हैं। पर एक भगवद्-भजन सुनता है, दूसरे को विलासी गानें सुनने में आनन्द आता है। जागरण दोनों करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मंदिर में विराजने वाले राम को भजता है, दूसरे को नाच-रंग की धुन में सोने का खयाल ही नहीं रहता। खाते दोनों हैं। पर एक शरीर रूपी तीर्थक्षेत्र की रक्षार्थ देह को भोजन रूपी भाड़ा देता है, दूसरा जबान के मजे की खातिर देह में बहुत-सी चीजों को ठूंसकर उसे दुर्गंधमय बना देता है। यों दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अंतर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य के मानी हैं, मन-वचन-काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये हुए त्यागों की आवश्यकता है, यह मुझे दिन-दिन दिखाई देता गया। आज भी दिखाई दे रहा है। त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं है, जैसे ब्रह्मचर्य की महिमा भी नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से सधनेवाली वस्तु नहीं। करोड़ों के लिए तो वह सदा केवल आदर्शरूप रहेगा, इसलिए कि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो अपनी कमियों को हर वक्त देखता रहेगा। अपने-मन के कोने अंतरे में छिपे हुए

विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने की कोशिश सदा करता रहेगा। जबतक विचारों पर यह काबू न मिल जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये तबतक ब्रह्मचर्य संपूर्ण नहीं। विचार-मात्र विकार है। उन्हें वश में करने के मानी हैं मन को वश में करना। और मन को वश में करना तो वायु को वश में करने से भी कठिन है। फिर भी अगर आत्मा का अस्तित्व सच्चा है तो यह वस्तु साध्य होनी ही चाहिए। हमारे रास्ते में कठिनाइयां आती हैं इससे कोई यह न मान ले कि यह कार्य असाध्य है। यह परम अर्थ है और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें अचरज क्या।

पर स्वदेश आने पर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है। कह सकता हूं कि तब तो मैं मूर्छा में था। मैंने मान लिया था कि फलाहार से विकार जड़-मूल से नष्ट हो जाता है, और अभिमान के साथ समझता था कि अब मुझे कुछ करना नहीं रहा।

पर इस विचार के प्रकरण तक पहुंचने में अभी देर है। तब तक इतना कह देना जरूरी है कि जो लोग ईश्वर-साक्षात्कार के उद्देश्य से, जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या मैंने ऊपर की है वैसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हों, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखने-वाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते[1]॥

अतः रामनाम और रामकृपा यही आत्मार्थी का अंतिम साधन है, इस सत्य का साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही किया।[2]

१—निराहार रहनेवाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं पर रस-राग बना रहता है। ईश्वर के दर्शन से वह भी चला जाता है।

गीता अ० २ श्लो० ५९।

२—आत्म-कथा खण्ड ३ का आठवां अध्याय।

: १५ :

विकार का बिच्छू

कलकत्ते के एक विद्यार्थी पूछते हैं :—

'कोई अपनी पत्नी के साथ शुद्ध व्यवहार रखे, अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करे, तो क्या उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय होगा ? अपढ़ पत्नी को ब्रह्मचर्य की महिमा वह किस तरह समझा सकता है ? उसे संयम धर्म कैसे सिखा सकता है ? ऐसा करने में उसे कहां तक सफलता मिलेगी ? समाज के आज के दूषित वातावरण में पत्नी को भ्रष्ट होने से कहां तक बचाया जा सकता है ?'

मेरा और मेरे साथियों का अनुभव तो यह है कि पति-पत्नी अगर स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करें तो आत्यन्तिक सुख पा सकते हैं। अपना सुख उन्हें नित्य बढ़ता हुआ जान पड़ेगा। अशिक्षित पत्नी को ब्रह्मचर्य की महिमा समझाने में कोई अड़चन नही होती, या यों कहिये कि ब्रह्मचर्य शिक्षित अशिक्षित का भेद नहीं जानता। ब्रह्मचर्य तो केवल हृदय के बल की बात है। मै ऐसी अपढ़ स्त्रियों को जानता हूं जो विवाहिता होते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन कर रही हैं। समाज के चित्त को चंचल कर देनेवाले वातावरण में भी जो पति ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह अपनी पत्नी के शील की रक्षा करने मे अधिक समर्थ हो जाता है। ब्रह्मचर्य का अभाव पत्नी को भ्रष्ट होने से बचा तो नही सकता पर उसके भ्रष्टाचार का पर्दा बन जाता है। इसकी मिसालें दी जा सकती हैं।

ब्रह्मचर्य की शक्ति अमित है। बहुतेरे उदाहरणों में मुझे यह अनुभव हुआ है कि ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला स्वयं विकार से मुक्त नहीं होता इस कारण उसके प्रयत्न का प्रभाव पत्नी के ऊपर नहीं पड़

सकता। विकार बड़ा चालाक होता है। अतः अपने भाई-बंदों को पह-चानने में उसे देर नहीं लगती। जो पत्नी अभी विकार-रहित नहीं हुई है, जो विकारों के त्याग के लिए अभी तैयार भी नही है, वह पति के हृदय में छिपे हुए विकार को तुरंत पहचान लेती है और उसके ढीले और निष्फल प्रयत्न पर मन-ही-मन हंसती हुई स्वयं निर्भय रहती है। जो ब्रह्मचर्य अविचल है, और जिसमें शुद्ध प्रेम भरा हुआ है, वह ब्रह्म-चर्य अपने सामनेवाले के विकार को जलाकर भस्म कर देता है, इसमें किसी को शंका न करनी चाहिए।

बेलूर-मठ में बहुत-सी सुन्दर मूर्तियों का संग्रह है। उसमें एक ऐसी मूर्ति मैंने देखी है जिसके शिल्पी ने काम को बिच्छू बनाया है। उसने एक कामिनी को डंक मारा है जो उसके कष्ट से विह्वल होकर बिलकुल नंगी होगई है। बिच्छू अपनी इस विजय पर इतराता हुआ कामिनी के पैर के पास खड़ा है और उसकी ओर देखकर हंस रहा है। जिस पति ने इस बिच्छू पर विजय पा ली उसकी आंखों में, उसके स्पर्श में, उसकी वाणी में ब्रह्मचर्य की शीतलता होती है। वह अपने निकट रहनेवाले के विकारों को क्षण-मात्र में ठंडा करके शांत कर देता है।

: १६ :

संयम को किसकी आवश्यकता है ?

एक ब्याह के उम्मीदवार भाई लिखते हैं—

"आप लिखते है—'संयम के पालन में एक को दूसरे की रजामन्दी की जरूरत नही है।' क्या यह औचित्य की सीमा के आगे जाना नही है ? पत्नी को जब तक अपने ज्ञान में साझी न बना सके तब तक तो राह देखनी चाहिए। हिन्दुस्तान मे अज्ञान का राज सर्वत्र फैला हुआ है और उसमे भी स्त्रियों के लिए तो पढाई का दरवाजा ही बन्द है। ऐसे देश मे यह मानने से कैसे काम चलेगा कि सब लोग सच्चे रास्ते को पहचानकर तुरन्त उस पर चलने लगेगे ? 'पति का कर्तव्य' बार-बार पढ़ने पर अभी खुलासे की जरूरत बनी है। मैं अभी अविवाहित हूं, पर थोडे ही दिनों मे ब्याह होने वाला है। अतः आपसे खुलासा कर लेना जरूरी मालूम हो रहा है। इसी गरज से यह पत्र लिख रहा हूं।"

जिस संयम को दूसरे की सहमति की आवश्यकता होती है वह संयम टिक नहीं सकता, यह मेरा अनुभव है। संयम को तो केवल अन्तर्नाद की आवश्यकता होती है। संयम का बल मन के बल पर अवलंबित होना है। और संयम ज्ञानमय और प्रेममय हो तो उसकी छाप आस-पास के वातावरण पर पड़े बिना न रहेगी। अन्त में विरोध करनेवाला भी अनुकूल बन जाता है। पति-पत्नी के बारे में भी यही बात है। पत्नी तैयार न हो तब तक पति को और पति तैयार न हो तब तक पत्नी को रुकना पड़े तब तो बहुत करके दोनों भोग-बंधन से कभी छूट ही न सकेंगे। बहुतेरी मिसालों में हम देख चुके हैं कि जहां एक का संयम दूसरे पर अवलंबित होता है वहां वह अन्त में टूट ही जाता है। और

यह ढिलाई या कमजोरी ही इसका कारण है। हम कुछ अधिक गहराई मे उतरकर देखे तो मालूम होगा कि जहां एक को दूसरे की रजामंदी की जरूरत होती है वहां संयम की सच्ची तैयारी या उसकी सच्ची लगन होती ही नहीं। इसी से तो निष्कुलानंद ने लिखा है कि 'त्याग न टके रे वैराग विना।' वैराग्य को अगर राग के साथ की जरूरत हो सकती हो तो संयम पालन की इच्छा करनेवाले को इच्छा न करने वाले की सहमति की आवश्यकता हो सकती है।

ऊपर दिये हुए पत्र के लेखक का रास्ता तो सीधा है। वह अभी अविवाहित हैं और उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन का सचमुच निश्चय कर लिया हो तो फिर वह ब्याह के बंधन मे बंधे ही क्यों? मां-बाप और दूसरे सगे सम्बन्धी तो अपने अनुभव के बल पर यह कहेंगे ही कि एक युवक का ब्रह्मचर्य धारण की बात करना समुद्र-मंथन करके तैरना है। यों कहकर, धमकी देकर, बिगड़कर, और दण्ड देकर भी उसे ब्रह्मचर्य के शुभ संकल्प से डिगाने की कोशिश करेंगे। पर जिसके लिए ब्रह्मचर्य का भंग ही सबसे बड़ा दण्ड हो, साम्राज्य पाने का प्रलोभन भी जिसे ब्रह्मचर्य का भंग करने के लिए तैयार नहीं कर सकता, वह किसी भी धमकी से डरकर क्यों ब्याह करेगा? जिसका आग्रह इतना तीव्र नहीं, जिसने ब्रह्मचर्य आदि संयम का इतना बड़ा मूल्य न आंका हो उसके लिए मैंने वह वाक्य नहीं लिखा है जिसे लेखक ने उद्धृत किया है।

: १७ :

मां-बाप की जिम्मेदारी

एक शिक्षक लिखते हैं:—

''आपने युवकों के दोष के बारे मे लिखा है। उसके लिए मुझे तो उनके मां-बाप ही जिम्मेदार मालूम होते है। बड़ी उम्रवाले बच्चों के मां-बाप भी, जो बच्चे पैदा करते चले जाते हैं इसका नतीजा क्या होगा ? ऐसे ब्याह को व्यभिचार कहना क्या अनुचित होगा ? एक बच्चा मां की मृत्यु के बाद पिता के पास सोया करता था। कुछ दिन बाद पिता ने दूसरा विवाह कर लिया और नई पत्नी के साथ भीतर से किवाड़ बन्द कर सोने लगे। बच्चे को कुतूहल हुआ कि पिताजी अब मेरे साथ क्यों नहीं सोते ? मेरी मां जब जीती थी तब तो हम तीनों जने एक साथ सोते थे, अब नई मा के आने पर पिताजी मुझे साथ क्यों नही सुलाते ? बच्चे का कुतूहल बढता गया। उसने किवाड़ की दरार में से झांककर देखने की सोची। दरार में से जो दृश्य उसने देखा उसका उसके मन पर क्या असर हुआ होगा ?

''पर समाज में यह बात सदा होती रहती है। यह मिसाल मेरे दिमाग की उपज नहीं है। यह तो एक १३–१४ बरस के बालक से सुना हुआ वृत्त है। जो जन-समाज बचपन में ही यों आत्म-नाश के रास्ते पर लगेगा वह स्वराज्य कैसे ले सकेगा ? या मिल जाने पर उसकी रक्षा कर सकेगा ? हर एक मा-बाप, शिक्षक, गृहपति, बालचर-मण्डल का नायक ऐसा न होने देने की सावधानता रखे तो कैसा हो ? छोटी उम्र में ब्रह्मचर्य का अर्थ समझना अक्सर कठिन होता है। बहुत से लड़कों को बटोरकर ब्रह्मचर्य पर व्याख्यान देने से यह बात कही अच्छी जान पड़ती है कि हर एक बालक का विश्वास-भाजन और सच्चा मित्र

बनकर इसका यत्न किया जाय कि बचपन मे ही उसका मन सदाचार की ओर झुक जाय। बच्चे के मन मे कुविचार का प्रवेश ही न हो इसका कोई उपाय तो होगा ही ?

"अब बड़ी उम्र वालो की बात सुनिये। जो समाज, जो जाति, गैरबिरादरी की स्त्री के हाथ का भोजन करनेवाले को जाति से बाहर कर देती है, वही जाति पर-स्त्री का संग करने वाले का बहिष्कार क्यों नही करती ? जो जाति राजनीतिक सभा-सम्मेलन मे अछूतों के साथ बैठ आने वाले को दण्ड देती है वही व्यभिचारियो को दण्ड क्यों नही देती ? इसका कारण मुझे तो यही जान पड़ता है कि आत्म-शुद्धि करने बैठे तो हर एक जाति की देह बहुत दुबली हो जाय। दुबली-पतली देह में भी बलवान आत्मा रह सकती है, इसका ज्ञान उसे कहां है ? बहुत-सी जातियों के मुखिया, चौधरी तक शराब या व्यभिचार के व्यसन मे फंसे होते है। इसलिए अपने ही पावों पर कुल्हाड़ी मारने के डर से वे उस ओर से तो आंखें बन्द किये रहते है और दूसरों को बिरादरी से बाहर करने के लिए हर वक्त कमर कसे तैयार रहते हैं। यह समाज कब सुधरेगा ? जिस देश को राजनीतिक उन्नति करनी हो वह पहले अपनी सामाजिक उन्नति न कर ले तो राजनीतिक उन्नति आकाश-कुसुम जैसी ही है।"

इस लेख मे बहुत तथ्य है यह तो सभी स्वीकार करेंगे। बच्चों के बड़े हो जाने पर उसी पत्नी से या वह मर जाय तो नया घर बसाकर बच्चे पैदा करने से बच्चों की हानि होती है। इसे मनवाने के लिए दलील देने की जरूरत नही, पर इतना संयम न हो सके तो भी पिता को इतना तो करना ही चाहिए कि बच्चों को अलग कमरे में रखे या खुद ऐसी जगह सोये जहां से बच्चे न कुछ सुन सकें, न देख सकें। इसमें कुछ सभ्यता तो रहेगी ही। बचपन सर्वथा निर्दोष, निर्विकार होना चाहिए, पर मा-बाप विलासिता के वश होकर उसे दोषमय बना देते हैं। वानप्रस्थाश्रम की प्रथा बालकों को नीतिमान, स्वतंत्र और

स्वावलम्बी बनाने में बहुत उपयोगी हो सकती है।

शिक्षकों के लिए लेखक ने जो सूचना दी है वह उचित तो है ही, पर जहां ५०–६० लड़कों का एक दरजा हो वहां शिष्यों के साथ शिक्षक का सम्बन्ध अक्षर-ज्ञान देने-भर का ही होता है। वहां शिक्षक चाहे तो भी शिक्षार्थियों के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध कैसे जोड़ सकता है ? फिर जहां पांच-सात शिक्षक पांच-सात विषय सिखाते हों वहां बालकों के सदाचार की जिम्मेदारी कौन उठायेगा; और फिर ऐसे शिक्षक ही कितने मिलेंगे जो बालकों को सदाचार-पथ पर लाने या उनका विश्वास-भाजन बनने की योग्यता रखते हों ? इसमें तो शिक्षा का सारा प्रश्न उपस्थित हो जाता है। पर उसकी चर्चा का यह स्थान नहीं।

समाज भेड़ों के झुंड की भांति बिना सोचे बिना इधर-उधर देखे आगे बढ़ता जा रहा है, और कुछ लोग इसी को प्रगति मान रहे हैं। वे इस बात को जानते हैं कि स्थिति ऐसी भयानक है तो भी हमारा वैयक्तिक रास्ता आसान है। उन्हें अपने क्षेत्र में जितना बन पड़े उतना नीति का प्रचार करना चाहिए। सबसे पहले तो वे अपने में ही प्रचार करें। दूसरों के दोष देखते समय हम खुद बहुत भले से लगने लगते हैं। पर अपने दोषों को देखें तो हम खुद हमी को कुटिल और कामी दिखाई देंगे। दुनिया का काजी बनने की बनिस्बत खुद अपना काजी बनना अधिक लाभदायक होता है और वैसा करते हुए हमें दूसरों के लिए भी रास्ता मिल जाता है। 'आप भले तो जग भला' का एक अर्थ यह भी है। तुलसीदास ने सन्तपुरुष को जो पारस-मणि कहा है वह गलत नहीं है। सन्त-पद प्राप्त करने का प्रयत्न करना हम सबका फर्ज है। सन्त होना किसी अलौकिक पुरुष के लिए आकाश से उतरा हुआ प्रसाद नहीं है, बल्कि हर आदमी का कर्त्तव्य है। यही जीवन का रहस्य है।

: १८ :

काम को कैसे जीतें ?

काम-विकार को जीतने का प्रयत्न करनेवाले एक भाई लिखते हैं—

"आपकी 'आत्म-कथा' का पहला खण्ड पढ़ने से बहुत-सी काम की बातें मालूम हुई हैं। आपने कोई बात छिपा नहीं रखी है, इसलिए मैं भी आज से कोई बात छिपा रखना नहीं चाहता।' 'नीति-नाश की ओर' पुस्तक भी पढ़ी। इससे यह मालूम हुआ कि विषय-वासना को जीतना खास तौर से क्यों जरूरी है। पर यह वासना इतनी बुरी है कि योगवासिष्ठ और स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ते समय तो सब कुछ निस्सार जान पड़ता है, पर उन्हें बन्द किया नहीं कि विषय-वासनाएं आ घेरती हैं। आंख, नाक, कान, जीभ को तो किसी तरह जीत भी सकते हैं, क्योंकि आंख बंद करते ही उसके विषयों का अभाव हो जाता है। दूसरी इन्द्रियों के साथ भी ऐसा कर सकते हैं। पर जननेन्द्रिय का तो रस्ता ही जुदा दिखाई देता है। जब वह सताती है तब जान पड़ता है—मैंने जो कुछ पढ़ा उसका जैसे कुछ भी मूल्य न हो। मेरा आहार सात्विक है। एक ही समय खाता हूं, रात में केवल दूध पर रहता हूं। फिर भी काम-वासना किसी तरह नहीं जाती। इसका कारण समझ में नहीं आता। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने एक जगह कहा है—"आहार न करने वाला देहधारी आदमी इन्द्रियों के विषयों से तो मुक्त हो जाता है पर विषयों की आसक्ति से मुक्त नहीं होता। उससे निवृत्ति तो परमात्मा के दर्शन होने से ही होती है।"

"इस प्रकार जब ईश्वर के दर्शन हों तभी विषयों की आसक्ति से

---

१. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

छुटकारा मिल सकता है, और चूंकि ईश्वर के दर्शन हो नहीं सकते, इसलिए विषयों से निवृत्ति भी नहीं हो सकती। यह है मेरी परेशानी। ऐसी दशा में क्या किया जाय ! क्या आप मुझ-जैसे विषय-जाल मे फंस जानेवाले को कोई रास्ता नही बतायेंगे।

"ऐसे साधु-सन्त अवश्य होंगे जो ऐसे जनों को रास्ता बता सके। पर वे मुझे मिलेगे कैसे ? क्योंकि आजकल तो यह जानना ही कठिन है कि सच्चा साधु कौन है।

"इस जिज्ञासा का उत्तर कृपा कर 'नवजीवन' द्वारा दें। जिससे कोई सही रास्ता पकड़ा और प्रभु को पाने में विघ्न रूप विषयों को जीता जा सके।

"अरसे से यह बात आपसे पूछने को जी चाहता था, पर हिम्मत न होती थी। मगर जब आपकी 'आत्म-कथा' पढ़ी तो जान पड़ा कि ऐसा बाते आपसे पूछना अनुचित न होगा। यह भी समझ मे आया कि प्रभु की प्राप्ति की राह मे जो कठिनाइयां दिखाई दें उनका उपाय पूछने में शर्म न करनी चाहिए।"

जो दशा इस भाई की है वही बहुतों की है। काम को जीतना कठिन अवश्य है पर अशक्य नहीं है। परन्तु जो काम को जीत लेता है वह संसार को जीत लेता है और संसार-सागर को तर जाता है। यह भगवान् का वचन है। इससे हम जान सकते है कि काम को जीतना दुनिया मे सबसे कठिन बात है। ऐसी वस्तु को पाने के लिए धीरज की बहुत आवश्यकता है। इसे काम-जय का प्रयत्न करने वाले सभी लोग स्वीकार नहीं करते। अक्षर-ज्ञान के अभ्यास में अध्यवसाय, धीरज और ध्यान की कितनी जरूरत है, इसे हम जानते है। उस पर से त्रिराशि का हिसाब लगाये तो हमें मालूम हो जाय कि अक्षर-ज्ञान की प्राप्ति में धीरज आदि की जितनी आवश्यकता होती है काम को जीतने में ससे अगणित गुना अधिक धीरज अपेक्षित है।

यह तो हुई धीरज की बात। पर काम के जीतने के उपाय के विषय में भी तो हम इतने ही उदासीन रहते हैं। मामूली बीमारी को हटाने

के लिए तो हम सारी दुनिया छान डालते है, डाक्टरों के यहां दौड़ने मे एड़ियां घिस डालते है, जन्तर-मन्तर भी नही छोड़ते। पर कामरूपी महा व्याधि से छूटने के लिए हम सब उपाय नही करते। थोड़ा उपचार किया कि थककर बैठ जाते है और उलटा ईश्वर या इलाज बतानेवाले के साथ यह शर्त करने लगते है कि इतनी चीजे तो हमसे नहीं छूटने की, फिर भी आप हमारा काम-विकार मिटा दे। इसका फल यह हुआ है कि काम-विकार से छूटने के लिए हमारे भीतर सच्ची व्याकुलता नहीं है। उसके लिए सर्वस्व त्याग करने को हम तैयार नही। यह शिथिलता विजय-प्राप्ति के मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा है। यह सही है कि निराहार रहने वाले के विकार दब जाते है, पर आत्म-दर्शन के बिना आसक्ति नही जाती। पर उक्त श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि काम को जीतने में निराहार-व्रत से कोई सहायता नहीं मिलती। उसका मतलब तो यह है कि निराहार रहते हुए कभी थको ही नही और ऐसी दृढ़ता तथा लगन से ही आत्म-दर्शन हो सकता है। वह हो जाने पर आसक्ति भी चली जायगी। ऐसा अनशन किसी के कहने से नही किया जा सकता। दिखावे के लिए भी नही किया जा सकता। इसमें तो मन, वचन और काया तीनों का सहयोग होना चाहिए। यह होने पर प्रभु का प्रसाद अवश्य प्राप्त होगा और वह मिल गया तो अन्त में विकार-शान्ति होकर ही रहेगी।

पर निराहार से पहले और बहुत-से उपाय करने होते हैं। उनसे विकार शांत न हुए तो ढीले जरूर पड़ जायंगे। भोग-विलास के प्रसंग-मात्र का त्याग कर देना चाहिए। उनकी ओर मन में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसलिए कि अरुचि या विराग के बिना त्याग केवल ऊपरी त्याग होगा और इस कारण टिक न सकेगा। भोग-विलास किसे कहें यह बताने की जरूरत न होनी चाहिए। जिस-जिस चीज से विकार उत्पन्न हों, वे सभी त्याज्य हैं।

आहार का प्रश्न इस विषय में बहुत विचारणीय है। मेरी अपनी

राय यह है कि जो अपने विकारों को शान्त करना चाहता हो उसे घी-दूध का इस्तेमाल थोड़ा ही करना चाहिए। वनपक्व अन्न खाकर निर्वाह किया जा सके तो आग पर पकाई हुई चीजे न खाये या थोड़ी खाये। फल और बहुत-सी साग-सब्जियां कच्ची, बिना पकाये खाई जा सकती है और खानी चाहिए। हा, कच्ची सब्जी की मात्रा थोड़ी रहे। दो-तीन तोला कच्ची सब्जी आवश्यक पोषण के लिए काफी है। मिठाइया और मिर्च-मसाले बिलकुल ही छोड़ देने चाहिए। आहार के विषय मे इतनी सूचनाए दे रहा हूं पर जानता हू कि केवल आहार से ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन नही हो सकता। परन्तु विकारोत्तेजक वस्तुएं खाने-पीने वाले को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने की आशा ही न रखनी चाहिए।

: १६ :

काम-रोग का निवारण

विलियम आर. थर्स्टन नाम के लेखक ने विवाह-विषय पर जो पुस्तक लिखी है वह इस योग्य है कि हर स्त्री-पुरुष उसको ध्यानपूर्वक पढ़े, समझे। (उसका सारांश परिशिष्ट मे दिया गया है।) हमारे देश मे १५ बरस के लड़के से लगाकर ५० तक के पुरुष और इसी या इससे भी कम उम्र की लड़की से लगाकर ५० तक की स्त्री की भी यह धारणा रहती है कि संभोग अनिवार्य है। उसके बिना रहा ही नही जा सकता। इससे दोनों विह्वल रहते है एक दूसरे का विश्वास नहीं करते। स्त्री को देखकर पुरुष का दिल हाथ मे नही रहता और पुरुष को देखकर स्त्री की भी वही दशा होती है। इससे कितने ही ऐसे रिवाज पैदा हो गये हैं जिनकी कृपा से स्त्री-पुरुष सभी निर्बल, निरुत्साही और रोगी हो रहे हैं। हमारा जीवन इतना हीन होगया है जितना हीन मनुष्य का जीवन न होना चाहिए।

इस वातावरण में रचे हुए शास्त्रों मे भी ऐसे आदेश और विश्वास देखने में आते हैं जिनके फलस्वरूप स्त्री-पुरुष को परस्पर ऐसा व्यवहार रखना पड़ता है, जैसे वे एक दूसरे के दुश्मन हों। कारण यह कि एक को देखकर दूसरे का मन बिगड़ जाता है या बिगड़ जाने का डर रहता है।

इस धारणा और उसके आधार पर बने रिवाजों की बदौलत जीवन या तो विषय-भोग में या उसके सपने देखने में चला जाता है और दुनिया हमारे लिए जहर से कड़वी हो जाती है।

होना तो यह चाहिए था कि मनुष्य में, भला-बुरा सोचने-समझने की शक्ति होती है इसलिए पशु की तुलना में उसमें, अधिक त्याग शक्ति

और संयम हो। पर हम रोज ही देखते हैं कि नर-मादा के संयोग की मर्यादा का पशु जितना पालन करता है मनुष्य उतना नहीं करता। सामान्य रीति से स्त्री-पुरुष के बीच मां-बेटे, भाई-बहन, या बाप-बेटी का संबंध होना चाहिए। यह तो खुली बात है कि पति-पत्नी का संबंध तो स्पष्टतः अपवाद रूप मे ही हो सकता है। और अगर भाई से बहन के या बहन से भाई के डरने का कारण हो सकता हो तो पुरुष दूसरी स्त्री से या स्त्री दूसरे पुरुष से डर सकती है। पर इसके विपरीत स्थिति यह है कि भाई-बहन को भी आपस मे संकोच रखना पड़ता है और रखना उन्हें सिखाया जाता है।

इस दयनीय दशा अर्थात् विषय-वासना की सड़ांध से भरी हुई हवा से निकल जाना हमारे लिए निहायत जरूरी है। हमारे अन्दर इस वहम ने जड़ जमा ली है कि इस वासना से निकलना नामुमकिन बात है। उसकी जड़ उखाड़ देना ही पुरुषार्थ है और वह हमसे हो सकने वाली बात है, यह दृढ विश्वास हमारे हृदय में उत्पन्न होना चाहिए।

यह पुरुषार्थ करने मे श्री बर्स्टन की नन्हीं-सी पुस्तक से बड़ी मदद मिलेगी। लेखक की यह खोज मुझे तो ठीक जान पड़ती है कि अस्वाभाविक काम-वासना की जड़ विवाह-विषयक वर्त्तमान धारणा और उसके आधार पर रचित प्रथाएं हैं जो पूर्व-पच्छिम सर्वत्र व्याप रही है। स्त्री-पुरुष का रात में एकान्त में एक कमरे में और एक विस्तर पर सोना दोनों के लिए घातक और काम-वासना को व्यापक तथा सार्वजनिक वस्तु बना देने का जबर्दस्त साधन है। एक तरफ तो सारी विवाहित दुनिया इसी नियम का अनुसरण करे और दूसरी ओर धर्मोपदेशक और सुधारक संयम का उपदेश करें। यह आसमान में थिगली लगाना नहीं तो क्या है। ऐसे विषय-वासना से भरे हुए इस वातावरण में संयम के उपाय व्यर्थ जायं तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं। शास्त्र पुकार-पुकारकर कहते हैं कि समागम केवल सन्तान की कामना से ही होना चाहिए।

इस आशा का उल्लंघन हम प्रतिक्षण किया करते हैं। फिर भी जब रोग हमें सताते हैं तो उनके कारण दूसरी जगह ढूंढे जाते हैं। इसी को कहते हैं—'गोद मे लड़का और शहर में ढिंढोरा'। इस सूर्य के प्रकाश जैसी स्पष्ट बात को हमने समझ लिया हो तो—

१. हर एक पति-पत्नी आज से प्रतिज्ञा कर लें कि हम एकान्त में न सोयेंगे और दोनों की इच्छा हुए बिना सन्तानोत्पादन-व्यापार में न लगेंगे। जब संभव हो तब दोनों अलग-अलग कमरे में सोयें, गरीबी के कारण यह मुमकिन न हो तो पति-पत्नी दूर-दूर और अलग-अलग खाटों पर सोयें, और बीच में किसी मित्र या कुटुम्बी को सुला लें।

२. समझदार मां-बाप अपनी लड़की ऐसे घर में देने मे साफ इनकार कर दें जहां उसे अलग कमरा और अलग खाट न मिल सके। ब्याह एक प्रकार की मित्रता है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के दुःख-सुख के साथी बनते हैं, पर ब्याह हो जाने के मानी यह नहीं हैं कि पति-पत्नी पहली ही रात को विषय-भोग में आकंठ निमग्न होकर अपनी जिन्दगी की बरबादी की नींव खोद लें। यह शिक्षा लड़के-लड़कियों को मिलनी चाहिए।

थर्स्टन की खोज स्वीकार करने का अर्थ यह है कि उसके मन में जो नई, आश्चर्यजनक, कल्याणकर और शांतिदायिनी कल्पना निहित है उस पर मनन किया जाय और ब्याह के विषय में प्रचलित विचारों में जो परिवर्तन आवश्यक हैं उसे समझ ले। तभी इस खोज का लाभ हमें मिल सकेगा। जो लोग इस खोज को हजम कर सके हों वे बाल-बच्चे वाले हों तो अपने बच्चों की तालीम और घर का वातावरण बदल दें।

यह समझने के लिए हमें थर्स्टन की शहादत की जरूरत न होनी चाहिए कि हम विषय-सुख भोगते हुए भी बच्चों के बोझ से बचे रहें; इसके लिए जिन बनावटी उपायों का जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है वे अति हानिकर हैं। ये उपाय हिंदुस्तान-जैसे देश में चल कैसे

सकते हैं, यही समझना कठिन है। पढ़े-लिखे लोग हिन्दुस्तान के दुर्बलता भरे वातावरण में इन उपायों से काम लेने की सलाह कैसे देते हैं, मेरी अकल में यह बात आती ही नहीं।

परिशिष्ट

१—सब रोगों का मूल

विलियम आरथर्स्टन नाम के अमरीकन लेखक ने 'फ़िलासफ़ी आफ मैरेज' (विवाह का तत्व-ज्ञान) नाम की छोटी-सी पुस्तक लिखी है जिसे न्यूयार्क के टिफानी प्रेस और मद्रास की गणेशन् कम्पनी ने भी प्रकाशित किया है। प्रकाशक के कथनानुसार श्री थर्स्टन, संयुक्त राष्ट्र की सेना में मेजर थे और लगभग दस बरस तक काम करके १९१९ में अवकाश ग्रहण किया। तब से न्यूयार्क नगर में रहते हैं। १८ बरस तक उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, फिलिपाइन द्वीपपुंज, चीन और अमरीका में विवाहित स्त्री-पुरुषों की स्थिति और विवाह के नियमों, प्रथाओं के प्रभाव का गहरा अध्ययन किया। अपने "निज के अवलोकन के अतिरिक्त वह प्रसूत-शास्त्र और स्त्री-रोगों के विशेषज्ञ सैकड़ों डाक्टरों से मिले और पत्र-व्यवहार करते रहे। इसके सिवा उन्होंने फौज में भरती होने के उम्मीदवारों की शारीरिक योग्यता की जांच के परचों और सामाजिक आरोग्य-रक्षक मण्डलों के इकट्ठे आंकड़ों का भी समुचित उपयोग किया है। लेखक ने सैकड़ों डाक्टरों से कैसे प्रश्न किये और उनके कैसे जवाब उसे मिले, यह उसने बताया है—

प्रश्न—आजकल विवाहित स्त्री-पुरुषों में सगर्भावस्था में भी संभोग का रिवाज है या नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर लगभग सभी डाक्टरों से यही मिला कि यह रिवाज है।

प्र०— ऐसे संभोग से गर्भपात या असामयिक प्रसव और प्रसूता

के रक्त मे विष-प्रवेश (ब्लड पॉयजनिंग) की सम्भावना है या नहीं ?

उ०— अवश्य है ।

प्र०— इस सभोग के फलस्वरूप बच्चों का विकलांग होना संभव है या नही ?

उ०— बहुत से डाक्टर तो गर्भावस्था मे भी कुछ महीनों तक संभोग की इजाजत देते ही है। वे इसके खिलाफ राय कैसे देते। पर सैकड़े २५ ने लिखा है कि विकलाग बच्चे पैदा होते है ।

प्र०— विकृत अग वाले बच्चे पैदा होने का कारण गर्भावस्था का समागम न हो तो दूसरा क्या हो सकता है ?

इसके उत्तरों मे बहुत मत-भेद है। बहुतेरे तो लिखते है कि हम इसका कारण नही बता सकते ।

प्र०—आजकल की पढी-लिखी स्त्रिया क्या गर्भाधान रोकने के साधनों का व्यवहार सचमुच करती हैं ?

उ०— हां ।

प्र०— इन साधनों से और कुछ नहीं तो स्त्री की जननेन्द्रिय की अपार हानि होने की संभावना तो है ही ?

सैकड़े ७५ डाक्टरों की राय में यह संभावना है ।

इसके अतिरिक्त लेखक ने कितने ही चौंकानेवाले आंकड़े दिये हैं जो जानने लायक हैं। सन् १९२० ई० में अमरीका की सरकार ने सेना में भरती होने वालों के शारीरिक दोषों के विषय में एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें बताया गया है कि—

२५ लाख १० हजार आदमियों की फौज में भरती होने की योग्यता की जांच की गई ।

उनमें से १२ लाख ८९ हजार में कोई-न-कोई शारीरिक या मानसिक दोष निकला।

५ लाख ८९ हजार आदमी सेना-सम्बन्धी सभी कामों के लिए

अयोग्य पाये गए।

इन उम्मीदवारों की उम्र १८ से ४५ साल के बीच थी।

इतनी जांच और अनेक देशों की स्थिति के अवलोकन के फलस्वरूप लेखक ने जो महत्त्वपूर्ण नतीजे निकाले हैं वे सिद्धांत उसी के शब्दों मे नीचे दिये जा रहे है :—

१. पुरुष स्त्री को रोटी-कपड़े और रहने को घर देता है इसलिए वह उसकी दासी बनकर रहे और चूंकि वह उसकी ब्याहता कहलाती है इसलिए एक ही कमरे में रहकर या एक ही बिस्तर पर सोकर नित्य उसकी काम-वासना की तृप्ति का साधन बनती रहे, प्रकृति हर्गिज ऐसा नहीं चाहती।

२. विवाह-बंधन में बंधने से ही पुरुष की विषय-वासना की तृप्ति स्त्री पर फर्ज़ हो जाती है, यह मानने का रिवाज दुनिया मे सब कहीं पड़ गया है। इस प्रथा के फलस्वरूप स्त्री को रात-दिन अमर्यादित विषय-भोग का साधन बने रहना और विवाहित स्त्रियों में से सौ पीछे ९० को अंशतः वेश्या बन जाना पड़ता है। यह स्थिति पैदा होने का कारण यह है कि वेश्यावृत्ति स्वाभाविक और उचित मान ली गई है, क्योंकि ब्याह का कानून यही मानने को कहता है। पति का प्रेम बनाये रखने के लिए भी यह वृत्ति स्वीकार करना स्त्री पर फर्ज माना जाता है।

इस अंकुशरहित विषय-भोग के अनेक भयावह परिणाम होते है—

१. स्त्री का नाड़ी-संस्थान—उसके दिल-दिमाग बहुत ही कमजोर हो जाते है, वह जवानी में बुढ़िया बन जाती है, उसका शरीर रोगों का घर और स्वभाव चिड़चिड़ा, अस्थिर, अशान्त हो जाता है, और वह बच्चों की सम्हाल भी ठीक से नहीं कर सकती।

२. गरीबों के घर इतने बच्चे पैदा होते हैं कि उनकी पूरी परवरिश और सम्हाल नामुमकिन होती है। ऐसे बच्चों को रोग लग जाते और बड़े होने पर वे चोर-उचक्के बनते हैं।

३. ऊँचे वर्ग वालों में निरंकुश विषय भोग की खातिर गर्भाधान न होने देने और गर्भ-पात के साधन काम मे लाये जाते हैं। इन साधनों से काम लेना साधारण-वर्ग की स्त्रियों को सिखा दिया गया तो राष्ट्र रोगी, अनीतिमान और भ्रष्ट हो जायगा और अन्त में उसका विनाश होगा।

४. अति संभोग से पुरुष का पुरुषत्व नष्ट होता है, वह इस लायक भी नहीं रह जाता कि मेहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह कर सके और अनेक रोगों के फलस्वरूप उसे समय से पहले ही परलोक का रास्ता लेना पड़ता है। अमरीका में आज विधुरों से विधवाओं की संख्या २० लाख अधिक है। उसमें उनकी संख्या थोड़ी ही है जो युद्ध के कारण विधवा बनी हैं। विवाहित पुरुषों का बड़ा भाग ५० की उम्र तक पहुचने के पहले ही जर्जर हो जाता है।

५. अति संभोग के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष दोनों के भीतर एक प्रकार की हताशता, अपने-आपको व्यर्थ समझने का भाव उत्पन्न हो जाता है। दुनिया में जो आज इतनी गरीबी दिखाई देती है, बड़े शहरों में जो गरीबों के मुहल्ले, गंदी अंधेरी गलियां हैं, उनका कारण पैसा मिलने वाले काम का अभाव नहीं है, बल्कि वर्तमान विवाह-नियमों के फलरूप निरंकुश संभोग है।

६. गर्भावस्था में जो स्त्री को पुरुष की वासना-तृप्ति का साधन बनना पड़ता है यह मानव जाति के भविष्य के लिए अति भयावह है।

इस अवस्था का संभोग मनुष्य को पशु से भी हीन बना देता है। गाभिन गाय सांड को अपने पास कभी आने ही न देगी। फिर भी अगर सांड बलात्कार करे तो वह गाय जो बछड़ा जनेगी उसके तीन या पांच पांव होंगे अथवा दो पूंछें या दो सिर होंगे। समस्त प्राणि-सृष्टि में अकेला मनुष्य ही यह मानता दिखाई देता है कि इस प्रकार के अत्याचार के पशुओं में जो परिणाम होते हैं वे मनुष्यों को न भुगतने होंगे। इस धारणा के मूल में एक भ्रम है। वह यह कि पुरुष से बहुत दिनों तक अपनी विषय-वासना तृप्ति किये बिना रहा ही नहीं जा

सकता। इस भ्रम की जड़ भी साफ दिखाई देती है। जब वासनाओं को जगानेवाला साथी सदा अपनी बगल में मौजूद हो तब पुरुष से भोग की भूख बुझाये बिना कैसे रहा जायगा ?

पर डाक्टरों की रायों और अपने निज के अनुभव-अवलोकन में भी जान लिया गया है कि गर्भाधान से पहले अति संभोग अगर अनिष्ट-मूलक है तो गर्भावस्था का संभोग तो सीधा नरक का द्वार है। इसके परिणाम रूप बच्चों में पागलपन तक की खराबी पैदा हो जाने का डर रहता है और खुद स्त्री को तो अपार कष्ट होता है, क्योंकि गर्भ-धारण की दशा में किसी स्त्री को संभोग की इच्छा नहीं होती।

लेखक ने इसके बाद चीन, हिन्दुस्तान और अमरीका में एक ही कमरे में अनेक स्त्री-पुरुषों के सोने से जो अनीति और निर्वीर्यता फैल रही है उसकी चर्चा की है, और इस बुराई का इलाज बताया है।

उसके बताये हुए कुछ उपाय तो ब्याह के कानून में सुधार करने के है, पर उसने ऐसे उपाय भी बताये है जिनका करना मनुष्य के हाथ में है। कानून तो जब सुधरना होगा सुधरेगा। पर कुछ सुधार तो आदमी के अख्तियार की बात है ही। जैसे—

१. सन्तान की कामना के बिना स्त्री-पुरुष का संभोग न होना चाहिए, इस प्राकृतिक ज्ञान का खूब प्रचार करना।

२. स्त्री को सन्तान की इच्छा न हो तो—पुरुष को केवल उसका पति होने के नाते ही उसका स्पर्श करने का अधिकार नहीं मिलता, इस सिद्धान्त का प्रचार करना।

३. विवाह-बंधन में बंधी होने के कारण ही पति के साथ एक ही कोठरी और एक ही बिस्तर पर सोना स्त्री का फर्ज नहीं है, बल्कि सन्तानोत्पादन के हेतु के बिना उसका इस तरह सोना अपराध है। इस ज्ञान का प्रचार करना।

लेखक का कहना है कि इन नियमों का पालन किया जाय तो दुनिया के आधे रोग चले जायं—गरीबी चली जाय, रोगी-विकलांग

बच्चों का पैदा होना बंद हो जाय, और स्त्री-पुरुष के जन-कल्याण के लिए पुरुषार्थ करने का मार्ग उन्मुक्त हो जाय।

एक महिला के प्रश्न

'विवाह का तत्त्व-ज्ञान' के लेखक ने उसे अपने मित्रों के पास प्रेमोपहार के रूप में भेजा होगा। उनमें से एक बहन ने उसे पत्र लिखा। उसके उत्तर में लेखक ने एक दूसरी पुस्तिका लिख डाली जिसमें उसके विचार अधिक स्पष्ट कर दिये गए हैं और अपने मत की पुष्टि अकाट्य दलीलों से, अधिक सबल रूप में की गई है। यह पुस्तक पहली से भी अधिक महत्त्व वाली और मननीय है।

उक्त बहन के पत्र का आशय, थोड़े में, इस प्रकार है--

"आपकी पुस्तक के लिए अनेक धन्यवाद। अतिशय विषय-भोग ही हमारे रोगों का मुख्य कारण है, इसे अचूक रूप में बतानेवाली आपकी पुस्तक पहली ही कही जा सकती है। काम-वासना महापुरुषों में भी होती है। कुछ महापुरुष उससे मुक्त भी होते हैं, और कितने ही साधारण-जनों में वह अति प्रबल होती है। पर संभोग की शारीरिक आवश्यकता कितनी है, मान ली हुई मानस आवश्यकता कितनी है और महज आदत से पैदा होनेवाली आवश्यकता कितनी है, इसकी छान-बीन कर लेना जरूरी है। मिसाल के तौर पर, यह जान लेना जरूरी है कि व्हेल के शिकार के लिए समुद्र में सुदूर गये हुए या ऐसे ही किसी अन्य कारणवश लम्बे अरसे तक स्त्री से जुदा रहने वाले पुरुष के स्वास्थ्य पर इस विवशता के ब्रह्मचर्य का क्या असर होता है।

"दूसरी बात यह है कि अतिशय विषय-भोग से होनेवाली हानि को तो मैं स्वीकार करती हूं पर क्या गर्भाधान रोकने के कृत्रिम साधन भी अनावश्यक हैं? गर्भ-पात या अवैध सन्तान का जन्म देने के पाप से क्या यह अच्छा नहीं है कि बाह्य साधनों से काम लेकर सन्तानोत्पत्ति होने ही न दी जाय। प्रकृति के नियम के विरुद्ध चलने वाला मनुष्य जनन-निरोध के उपायों को काम लेने के फलस्वरूप दुनिया में अपना नाम

सेवा छोड़े बिना मर जाय तो इसमें समाज का क्या बिगड़ता है ?

"तीसरी बात, मान लीजिये, हम सभी संयमी बन गये। तो भी मोटे हिसाब हर एक दम्पति के तीन से अधिक बच्चे न हो तभी दुनिया की आबादी हद के अन्दर रह सकती है। और इसका अर्थ यह होता है कि सारी जिन्दगी मे उन्हें दो-चार बार ही संभोग-सुख भोगने का अवसर मिल सकता है। इतना संयम क्या साधारण आदमी के बस की बात है ? क्या स्वस्थ और बल-पौरुष-सम्पन्न पुरुष लम्बे अरसे तक संयम रख सकता है ?

दो कामनाएं

इस पत्र के उत्तर मे लेखक ने जो पुस्तिका ('द ग्रेट सीक्रेट') लिखी उसका सार नीचे दिया जाता है--

"साधारण पुरुष मे आहार की इच्छा के अतिरिक्त दो कामनाए और होती हैं—एक सती-सुन्दरी स्त्री के साथ सभोग की, दूसरी पुरुषार्थ की, अर्थात् धर्म, अर्थ और मोक्ष की। पहली को तृप्त करने की इच्छा दूसरे की प्रेरणा करती है। बहुतों की पुरुषार्थ की कामना ब्याह के पहले ही, सहजप्राप्त स्त्री के साथ काम-वासना की परितृप्ति कर लेने से मर जाती है। अधिकाश की ब्याह के बाद दो चार बरसों ही मे सभोग के अतिरेक से मर जाती या मन्द हो जाती है। स्वस्थ और वीर्यवान पुरुष मे संभोग की इच्छा प्राय: सदा बनी रहती है, पर पुरुषार्थ की कामना बलवती होजाय तो काफी लंबे अरसे तक वह दब भी जाती है। आवश्यकता है किसी महान् लक्ष्य की। ऐसे लक्ष्य की जिसकी सिद्धि मे मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगा देने का संकल्प कर ले।

ऐसे लक्ष्य अनेक है। एक सामान्य लक्ष्य तो उत्तम सन्तान पैदा करना ही है। अपनी सहधर्मिणी की स्वाभाविक सन्तानेच्छा को तृप्त करके उसे प्रसन्न रखकर स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करना और उसके पालन पोषण, पढ़ाने-लिखाने, उसे योग्य नागरिक बनाने में लग जाने से

विषय-वासना अपने आप विदा हो जानी चाहिए। पर इन कर्तव्यों का पालन कर सकने के लिए जरूरी होगा कि उसका शरीर भरा हुआ हो, वह शरीर से काफी मेहनत-मशक्कत करे। इसके सिवा उसे स्त्री के साथ एक खाट पर सोना भी बंद करना होगा। दूसरा लक्ष्य है कीर्ति का—लोक-कल्याण करके या कोई बड़ा पराक्रम करके नाम कमाना। हो सकता है कि नाम कमा लेने के बाद मनुष्य यह भी चाहे कि उसे विषय-सुख अधिक अच्छी तरह भोगने का मौका मिले, पर कीर्ति की लालसा उस वक्त तो मूल वासना को दबा ही देती है।

स्त्री ही जाति के आदर्शों की जननी है। ये आदर्श स्त्री से ही पुरुष के मानस में पहुंचते है, इनके परिपाक की प्रेरणा भी स्त्री से ही मिलती है। अतः मैं तो कहूंगा कि जिस समाज मे स्त्री का मूल्य अधिक है—जिस समाज मे स्त्री उर्वशी के समान-विक्रम के वश मे है वह समाज अधिक उत्कर्षशाली है। जिस देश मे स्त्री की कीमत कम है, अर्थात् जहा स्त्री की प्राप्ति में पुरुष को कुछ मेहनत नही करनी पड़ती उस देश में गरीबी और गन्दगी की बहुतायत होती है। अतः जहां स्त्री का मूल्य अधिक हो वहां के लोगों को अधिक समृद्ध होना चाहिए।

आप जानना चाहती है कि व्हेल के शिकार को गये हुए और पत्नी से लंबे अरसे तक जुदा रहनेवाले पुरुष के स्वास्थ्य पर इस विवशता के ब्रह्मचर्य का असर क्या होता है। इन लोगो को सख्त मेहनत करनी पड़ती है इसलिए काम-वासना की अतृप्ति का उनके स्वास्थ्य पर तो कोई बुरा असर नहीं पड़ता। हां, जब उनके पास काफी काम नहीं रहता तब इस वासना को अप्राकृतिक रूप मे तृप्त करने के दुर्व्यसन उन्हें लग जाते है। शिकार से लौटकर ये लोग अपनी सारी कमाई शराब और ऐयाशी मे उड़ा देते है, क्योंकि यही लक्ष्य लेकर ये शिकार के लिए जाते है।

कृत्रिम साधन

कृत्रिम साधनों से सन्तानोत्पादन रोकने का प्रश्न जो आपने उठाया है

वह गंभीर है। उसका उत्तर जरा विस्तार से देना होगा। अपनी खोजों और अवलोकन के बल पर इतना तो मैं जोर देकर कह सकता हूं कि इन साधनों से हानि नहीं होती इसका सबूत नहीं ही मिलता। हां, सफल और ज्ञानवान स्त्री रोग-चिकित्सकों और मानस-रोग-चिकित्सकों के पास इसे साबित करने के लिए जबर्दस्त मसाला मौजूद है कि इन साधनों से काम लेना शरीर, स्वास्थ्य और नीति दोनों के लिए अति हानिकर है। और यह खुली बात है कि इस विषय में एक दो बातें ध्यान देने योग्य है। सन्तान की कामना न हो तो पति-पत्नी में से किसी को भी संयम के लिए प्रेरित करने वाली कोई शक्ति नहीं रहती। पुरुष का जी उस स्त्री से भर जाता है, उसकी पुरुषार्थ की कामना मंद पड़ जाती है। स्त्री उसे दूसरी स्त्रियों के पास जाने से रोकने के लिए उसे अपना ही गुलाम बना रखना चाहती है। अरसे तक गर्भाधान न होने देने से उसकी अपनी भोगेच्छा भी भड़कती जाती है। नतीजा यह होता है कि पुरुष कुछ ही बरस में निर्वीर्य हो जाता है और किसी भी रोग का सामना कर सकने का बल उसमें नहीं रहता। इस निर्वीर्यता से बचने के लिए अकसर कुत्सित साधनों से काम लिया जाता है, जिससे स्त्री-पुरुष के मन में एक दूसरे के लिए तिरस्कार उत्पन्न होता है और अन्त में सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक की नौबत आती है।

कैंसर के विशेषज्ञों का कहना है कि इन कृत्रिम साधनों का व्यवहार कैंसर रोग का भी कारण होता है। नारी-देह की एक कोमलतम झिल्ली पर इन साधनों का बहुत बुरा असर होता है—और उससे कितने ही रोग पैदा होते हैं। कितने ही प्रतिष्ठित डाक्टरों का यह भी कहना है कि इन साधनों को काम में लाने के कारण बहुत-सी स्त्रियां बांझ बन जाती है। उनका जीवन नीरस हो जाता है और संसार उनके लिए विषरूप हो जाता है।

जज लिंडसे का भ्रम

हमारे जज लिंडसे ने इन कृत्रिम साधनों की खोज को व्यापक रूप दे दिया है, पर उससे होने वाले सर्वनाश का उन्हें पता नहीं है। 'वैज्ञानिक गर्भ-निरोध' को वह नई खोज मानते हैं--पर वह बहुत पुरानी चीज है। फ्रांस में कम-से-कम एक सौ साल से इस साधन का चलन है। उसकी दशा आज क्या है यह देखिये। उसकी राजधानी पेरिस में ७० हजार तो ऐसी वेश्याएं हैं जिनके नाम वेश्याओं के रजिस्टर में दर्ज हैं। 'अन रजिस्टर्ड'' खानगी वेश्याओं की सख्या उनसे कई गुनी है। उसके और नगरों मे भी यह बुराई बुरी तरह फैल रही है। जननेन्द्रिय के रोगों का भी कोई हद-हिसाब नही है और लाखों स्त्रियां-विवाहित-अविवाहित दोनों--उनसे पीड़ित हो डाक्टरों के दर की खाक छान रही हैं। कितने ही बरसों से जन्म-संख्या का औसत मृत्यु-संख्या के औसत से बहुत नीचा है। फ्रांस के लोग नीति-भ्रष्टता के लिए सारी दुनिया में बदनाम हो रहे हैं और फ्रेंच कुमारियां बुरदाफरोशी के बाजार में दिन-दिन अधिक सख्या में पहुंच रही हैं।

सबसे भयावह बात तो यह है कि इन साधनों का एक बार जहां धड़ल्ले से प्रचार हुआ कि फिर इस गंदे ज्ञान का प्रचार रोकने का कोई उपाय नही रहता। उसे रोकने की शक्ति भी किसी में नहीं रह जाती। सबसे पहले ये बातें युवा-वर्ग में पहुंचती है। फ्रांस के वेश्यागृहों मे कोमल वय की कुवारी और विवाहिता दोनों तरह की अभागी स्त्रियों के यौवन और चरित्र की हाट लग रही है।

जज लिंडसे अपने देश (अमरीका) के युवा अपराधियों का विचार करनेवाली अदालत में अरसे तक न्यायाधीश रह चुके हैं। इन युवक अपराधियों के बयानों मे उन्हें जो तथ्य मिले उनका उन्होंने उलटा उपयोग किया, और अपनी पुस्तक में उलटे साधनों की सलाह देकर सारी जनता को उलटे रास्ते पर लगा दिया।

पर अपनी ही पुस्तक में उन्होंने जो तथ्य-प्रमाण दिये हैं उनका

रहस्य उनकी समझ मे क्यों न आया ? वर्जीनिया एलिस नाम की युवती का पत्र उन्होंने अपनी पुस्तक मे उद्धृत किया है। वह बेचारी लिखती है कि मै चार होशियार डाक्टरों से मिल चुकी और मेरे पति दूसरे दो डाक्टरों की सलाह ले चुके। इन छहो डाक्टरों का कहना है कि गर्भ निरोध के साधनों को काम मे लाने से थोड़े दिनों तक स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य पर कोई असर पड़ता भले ही न दिखाई दे, पर कुछ ही दिन मे दोनों हाथ मलने लगते है, और इस अनिष्ट से ऐसी व्याधि की उत्पत्ति होती है, जिसका आपरेशन 'एपिडिसाइटिस' (आंत का फोड़ा) और गालस्टोन (पित्ताशय की पथरी) के नाम से किया जाता है। पर असल मे तो कुछ और ही होता है । क्या ये डाक्टर झूठे है ? ऐसी राय देने मे तो उनका कोई लाभ नही। उलटा, कृत्रिम साधन काम मे लाये जांय तो रोग बढे और उनका रोजगार ज्यादा चले। पर ये डाक्टर अनुभवी, प्रतिष्ठित और लोकहित को समझने वाले है।

जज लिडसे और उनके पीछे चलनेवाले अब पूरी लगन के साथ इन साधनों के प्रचार मे लग रहे है। यह प्रचार बढ़ता गया तो देश मे हजारों नीम हकीम इन साधनों के लिए फिरते दिखाई देंगे और इससे राष्ट्र की अपार हानि होगी।

लिंडसे महोदय ने जनन-निरोध के साधनों का प्रचार करने के लिए एक मण्डल स्थापित कर लिया है और कहते है कि यह संस्था स्वर्ग को धरती पर उतार लायेगी। पर मै तो मानता हूं कि वह दुनिया को नरक बना देगी। जन साधारण मे इन साधनों का प्रचार हुआ तो लोग बेमौत मरेंगे। घुल-घुलकर, सिसक-सिसककर मरेंगे और शायद यह सत्यानाश देखकर ही आनेवाली पीढ़िया इन साधनो से प्रेत की तरह भागना सीखेगी।

जज लिडसे की नीयत बुरी नहीं है। वह बेचारे तो यही चाहते है कि हर एक कुटुम्ब मे उतने ही बच्चे पैदा हों जितने स्त्री

चाहती हों और जितने के पालण-पोषण का बोझ पुरुष उठा सके। उनका दूसरा उद्देश्य है कि स्त्री में सभोग-सुख की स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति का समुचित साधन उसे मिल जाय। इस भावना का भूत उनकी अदालत मे भग्न-वाहिनी निर्लज्ज छोकरियो ने उनके मानस मे घुसाया है। मै तो यह मानता हू कि उनकी अदालत मे आनेवाली लड़कियों जैसी शहादते देनेवाली लड़कियां अपवादरूप ही होंगी। मै दूसरी बहुत-सी लड़कियों से मिला हूं। वे काम-वासना की बातों को जज लिंडसे के इजलास पर शहादत देने वाली लड़कियों की तरह कवित्व और तत्त्व-ज्ञान का पालिश चढ़ाकर तो कह ही नही सकती। बहुसंख्यक समझदार लड़कियां और माताए जानती है कि यह वासना शुद्ध भ्रम है। पर जज लिंडसे के सामने कितनीही वर्षो से ऐसी कच्ची अक्ल की लड़कियां लगातार आ रही है। इससे उनके जैसा विवाहित अधेड़ उम्र का विद्वान् पुरुष भी रास्ते से बहक गया और अनचाहे बच्चों की पैदाइश रोकने की पुस्तक लिख डाली, नही तो ऐसा कौन होगा जो इतना ज्ञान रखते हुए कालिज मे पढ़नेवाले लड़के-लड़कियों को निर्भय होकर सहवास-सुख भोगने की सलाह देगा और इसके लिए कानून बनवाने का आदोलन करेगा? उनका ज्ञान काम कर रहा होता तो उन्हे यह मालूम होता कि कितने सुन्दर, तेजस्वी युवक इस पाप से आत्म-घात की शिक्षा प्राप्त करते है, इसलिए कि उनका पुरुषार्थ बिदा होजाता है और उसके साथ-साथ जीने की इच्छा भी चली जाती है। उन्हें इसका पता न हो तो मानस रोगों का इलाज करनेवाले उन्हें बता सकते है कि कच्ची उम्र मे जननेन्द्रिय को बहक जाने देना अच्छे भले युवक को शराबी, चोर, उचक्का और लफंगा बना देता है। उनकी अक्ल मारी न गई होती तो क्या वह लिखते कि पुरुष की विषय-वासना तृप्त करना और उसकी वेश्या बनना स्त्री का धर्म है?

इन अक्ल के दुश्मनों को कौन समझाये कि प्रजा में अगर जन्म-मरण बहुत बढ़ जाय तो उसे रोकने का बस एक ही उपाय है विषय-

भोग से निवृत्ति ! इनकी आंखें यह क्यों नहीं देख सकती कि पशुओं में यही उपाय अमोघ है ? इनकी अकल में यह बात क्यों नहीं आती कि इन ऊपरी उपायों का अवलंबन स्त्रियों को वेश्या और विपथगामिनी और पुरुषों को निर्जीव-नपुंसक बना देता है।

स्वास्थ्यरक्षा के लिए संभोग आवश्यक है, इस भ्रम को दूर कर देना हरएक डाक्टर और अनुभवी सलाहकार पर फर्ज है। मैं तो अपने अनुभव और विद्वान् अनुभवी चिकित्सकों के साथ बातचीत करके जो कुछ जान सका हूं उसके आधार पर यह कहने को तैयार हूं कि लंबे अरसे तक संभोग न करने से कुछ भी हानि नहीं होती, बल्कि बेहद लाभ होता है। कितने ही युवकों में जो उछलता हुआ उत्साह और कौंधता हुआ तेज दिखाई देता है वह उनके जी भरकर विषय-भोग करने का फल नहीं बल्कि संयम का प्रसाद होता है। हर एक पुरुषार्थी 'पुरुष' जाने-अनजाने इस सूत्र का पालन करता है—

विषय-वासना की तृप्ति में खर्च होनेवाली शक्ति सहज ही पुरुषार्थ सिद्धि में लगाई जा सकती है। शक्ति का संयम जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक सिद्धि मिलेगी।

इन्सान कितनी ही सदियों से कीमिया की तलाश में भटक रहा है। इस सूत्र में जैसी शक्तियां भरी हैं वैसी कहां मिलेगी ?

स्त्री का कर्त्तव्य

स्त्रियों को अब जागना, सावधान हो जाना चाहिए। उन्हें यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि हम पुरुष की विषय-वासना तृप्त करने के साधन नहीं हैं। इस रूप में व्यवहार किये जाने का उन्हें तीव्र विरोध करना चाहिए। पुरुष कमाकर स्त्री को खिलाता है तो इसके लिए इतना उपद्रव क्यों ? वह घर चलाये, बच्चों को पाले-पोसे, पढ़ाये-लिखाये, घर के वायु-मंडल में प्रसन्नता भरे, पति और बच्चों को ऊंचे आदर्शों से अनुप्राणित करे, अपने उगते-खिलते हुए बेटे-बेटियों को सन्मार्ग पर चलाती रहे इससे अधिक स्त्री का कर्त्तव्य और क्या हो

सकता है ? इतने कर्त्तव्यों का बोझ उठाने के लिए तो उसे इनाम मिलना चाहिए. उसके लिए खास सुभीते कर दिये जाने चाहिएं।

ब्रह्मचारिणी जोन

पुरुष जैसे विषय-भोग की कामना को पुरुषार्थ मे बदल सकता है वैसे ही स्त्री भी कर सकती है। ऊचे आदर्श सामने रखकर अपने यौवन-धन, अपने सौन्दर्य और अपने सारे आकर्षण को लेकर वह बडे-से-बडा पुरुषार्थ कर सकती है। इतिहास मे इसका सबसे ऊचा उदाहरण जीन द आर्क (जोन आव आर्क) का है। उसके पास अपने निष्कलक कौमार्य और पारदर्शक ब्रह्मचर्य के सिवा और कौन-सा बल था। १५वी सदी मे फ्रांस मे कैसी भयावह स्थिति थी! सब ओर दारिद्र्य, दुःख और दुष्टता का साम्राज्य था। फ्रेंच सेना अनेक वर्षो से अग्रेजी सेना से हार पर हार खाती जा रही थी. सैनिक निस्सत्व, निर्वीर्य हो गये थ। उत्तर के सभी बड़े नगर दुश्मन के कब्जे मे थे। पेरिस की सड़कों पर लाशों के ढेर पड़े सड़ रहे थे। राजा भाग गया था। स्त्रियों मे शील जैसी वस्तु रह ही नही गई थी ऐसे कठिन काल में जीन द आर्क नाम की अपढ पर महा-शूरवीर और बुद्धिमती कुमारी आगे आई। लोग उसकी पवित्रता स्वीकार न करते थे। सोचते थे कि वह भी फ्रास की दूसरी हजारों छोक-रियो जेसी होगी। सोलह साल की लड़की का कौमार्य क्या अखंडित हो सकता है ?

उसके कौमार्य की जाच करने के लिए एक कमीशन बिठाया गया। उसका दावा सही साबित हुआ। तब बुद्धिमान पुरुषों ने उसे चादी का बख्तर पहनाया और फौज के आगे रखा, और वह इस तरह मौत का डर छोड़कर लड़ी मानो उसके अन्दर किसी ने बिजली भर दी हो। उसके ब्रह्मचर्य का लोगों के ऊपर अद्भुत प्रभाव पड़ा। नामर्द मर्द बन गये और कितने ही वर्षो से चलनेवाली लड़ाई गिने-गुथे दिनो में ही समाप्त हो गई। अंग्रेजों के कदम फ्रास से उखड़ गये। इतिहास में इस घटना का जवाब नही मिला। पर आज जो प्रवाह बह रहा है

वह चलता रहे—स्त्री विषय-वासना की तृप्ति-मात्र का साधन बन जाय। पुरुष उसे भ्रष्ट करता रहे, जनन-निरोध के साधनों का चलन ग्राम हो जाय, तो इससे समाज में सत्यानाश का जो चक्र चलेगा उसे रोकने के लिए ब्रह्मचारिणी तपस्विनी जीन द आर्क जैसा की ही आवश्यकता होगी, जो ५वीं सदी की उस वीरांगना का जोड़ होगा।

सब स्त्रियाँ भले ही जीन द आर्क न बनें, भले ही वे पवित्र विवाह-बंधन में बंधे, पर इस बंधन में बंधकर भी वे अपने सम्बन्ध की पवित्रता कायम रखें, उसे वेश्या-वृत्ति न बना दें। माता का धर्म समझें, और पुरुषों का पुरुषार्थ जगाने वाली शक्ति बने।

उपसंहार

यह इस सुन्दर पुस्तक का सार है। पहली पुस्तक का सार लगभग शब्दशः उलथा है। पर यह खुलासा उलथा नहीं बल्कि लेखक के भावों का निचोड़ है। सारी पुस्तक मे जो-कुछ कहा गया है वह मानो अपने इस महामत्र में आ जाता है—

मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्

और जीन द आर्क जैसे ज्वलन्त दृष्टान्त अपने वैधव्य के अखंड ब्रह्मचर्य से चमकनेवाली मीराबाई, झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई और अहल्याबाई होलकर के तथा संपूर्ण जीवन को कौमार्य—ब्रह्मचर्य से शोभा-सम्पन्न कर देने वाली दक्षिण भारत की दो साध्वियों अव्वे और आडाल के चरित्रों में मिलते हैं।[1]

---

[1]स्वर्गीय श्री महादेव देसाई द्वारा किये हुए और 'नवजीवन' में प्रकाशित सारांश का उलथा।

२—जनन और पुनर्जनन

(श्री विलियम लॉफ्टस हेयर के लेख का भावानुवाद)[1]

जिन जीवों का शरीर केवल एक कोष का बना होता है उन्हे खुर्दबीन से देखने पर प्रकट होता है कि अति निम्न कोटि की जीवश्रेणियों में जनन या वंश-वृद्धि की क्रिया विभाजन के द्वारा होती है। जीव-शरीर के टुकड़े होकर एक से दो जीव बन जाते हैं। जीव पोषण पाकर पुष्ट होता है और उसकी जाति के जीव के देह की अधिक-से-अधिक जितनी बाढ़ हो सकती है उस बाढ़ को जब वह पहुंच जाता है तब वह अपने प्राण-केन्द्र (न्यूक्लियस) और कुछ क्षण बाद शरीर के भी दो टुकड़े कर लेता है। स्थिति साधारण हो—जल और आहार सुलभ हो—तो जान पड़ता है उसके जीवन का कार्य यहीं समाप्त हो जाता है। पर ये दोनों वस्तुएं सुलभ न हों तो कभी-कभी यह देखने में आता है कि दोनों कोष फिर जुड़ जाते हैं। इससे नये जीव की उत्पत्ति तो नहीं होती पर उस जीव की जवानी लौट आ सकती है।

बहुकोषी जीवों में भी पोषण और वृद्धि की क्रियाएं वैसे ही होती हैं जैसे नीचे की श्रेणीवाले प्राणियों में, पर एक नई बात देखने में आती है। जिस कोष-समूह से शरीर का निर्माण होता है वह कई वर्गों में बट-कर भिन्न-भिन्न कार्य करने लगता है। कुछ आहार या पोषण प्राप्त करते हैं, कुछ उसका वितरण करते हैं, कुछ शरीर या उसके विभिन्न अंगों को हिलने-डुलने में समर्थ बनाते हैं तो कुछ उसकी रक्षा का भार उठाते हैं, जैसे खाल। जिन कोषों को नये काम सौंपे जाते हैं वे विभा-

---

[1]**शिकागो अमरीका के 'ओपेन कोर्ट' नामक मासिक के मार्च १९२६ के अंक में प्रकाशित।**

जन की प्राथमिक क्रिया त्याग देते हैं। पर जिनका स्थान पिंड के अधिक भीतरी भाग में होता है वे उसे किये जाते हैं। जिन कोषों का रूप-कार्य बदल गया वे उनकी सेवा-रक्षा करते हैं। पर वे खुद जैसे-के-तैसे बने रहते हैं। वे पहले की तरह फटते, विभक्त होते रहते हैं, पर बहुकोषी शरीर के अंदर ही आगे चलकर कुछ उससे बाहर भी कर दिये जाते हैं। परन्तु उन्हें एक नई शक्ति मिल जाती है। अपने पुरखों की तरह फटकर एक से दो हो जाने के बदले वे अपने प्राण-केन्द्र के टुकड़े किये बिना ही उसमें नये पिंड पैदा कर लेते हैं। यह क्रिया तबतक चलती रहती है जबतक प्राणी अपनी जाति की पूरी बाढ़ नहीं प्राप्त कर लेता। तब उसकी देह में एक नई बात दिखाई देती है। बीज-कोषों के मूल समुदाय बाह्य जनन के काम से छुट्टी पा ही जाते हैं। देह के भीतर विभिन्न क्रियाओं के लिए वे नये कोष भी लगातर प्रस्तुत करते रहते हैं। अपने मूल रूप में बने रहनेवाले कोष इस प्रकार एक साथ दो काम करते हैं—शरीर के विकास के लिए भीतरी जनन या उत्पादन और वंश-रक्षा के लिए बाहरी जनन। यहां इन दोनों क्रियाओं में हम स्पष्टत: भेद कर सकते हैं। इनमें से एक को हम **पुनर्जनन** और दूसरा को **जनन** कहेंगे। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। पुनर्जनन की क्रिया—भीतरी उत्पादन—व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य है, इसलिए आवश्यक और प्रधान है। जनन की क्रिया कोषों के आवश्यकता से अधिक हो जाने का परिणाम है, इसलिए कम जरूरी, गौण है। संभवत: दोनों शरीर को पूरा पोषण मिलने पर अवलंबित है, क्योंकि उसमें कमी हुई तो शरीर के भीतरी निर्माण की क्रिया ठीक तौर से न हो सकेगी और फिर बाह्य जनन-वंश-वृद्धि की आवश्यकता न होगी, होना शक्य न होगा। अत: इस स्थिति में जीवन का नियम यह है कि बीज-कोषों का पोषण पहले पुनर्जनन के लिए किया जाय, फिर जनन-क्रिया के लिए। शरीर को पूरा पोषण न मिलने की दशा में पुनर्जनन प्रथम कर्तव्य होगा और जनन की क्रिया बंद रहेगी। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि

सन्तनोत्पादन कुछ समय तक रोक रखने की प्रेरणा का उद्गम कहां है और किस तरह विकसित होकर उसने ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या का रूप प्राप्त किया। आन्तरिक पुनर्जनन की क्रिया बंद हो जाने का अर्थ मृत्यु होगा, और यह बात हमें स्वाभाविक मृत्यु के मूल का भी पता दे देती है।

जीवन-शास्त्र में जनन

मनुष्यों और पशु-जातियों में लिंग-भेद चरम विकास को पहुंच चुका है और साधारण नियम बन गया है। इनकी स्थिति पर विचार करने के पहले हमें जनन या वंश-वृद्धि के मध्यवर्ती प्रकार पर एक निगाह डाल लेनी होगी। यह प्रकार है—उभयलिंग प्रकार के पहले और अलिंग प्रकार के बाद का। पौराणिक गाथाओं में इस जीवश्रेणी को उभयलिंग की संज्ञा दी गई है, इसलिए कि वह नर-नारी दोनों के काम करता है। कुछ जीवों में अब भी यह बात देखने मे आती है। उनमें बीज-कोषों की आन्तरिक वृद्धि तो ऊपर बताई हुई रीति से ही होती है, पर जनन क्रिया के लिए बिलकुल अलग कर दिये जाने के बदले वे कुछ काल के लिए ही अलग किये जाते हैं और देह के दूसरे भाग में दाखिल हो जाते है, और जबतक स्वतंत्र जीवन की योग्यता नहीं प्राप्त कर लेते तब तक वही उनका पोषण होता रहता है।

जीवन के विकास का नियम यह मालूम होता है कि प्राणी एक-कोषी हो, बहु कोषी हो या उभयलिंग, उसके शरीर की बाढ़ उस हद तक हो सकती है जिस हद तक उसके जननी-जनक उसके जन्म-काल में पहुंच चुके थे। इस प्रकार प्रगति व्यष्टि-प्राणी की ही होती है। जब-जब वह बच्चा पैदा करता है, शरीर-संघटन की दृष्टि से वह खुद पहले से अच्छी स्थिति में होता है या हो सकता है। फलतः उसकी सन्तान अपने मां-बाप की साधारण बाढ़ को पहुंचने म समर्थ होगी। सन्तानोत्पादन मे समर्थ होने का काल प्रत्येक. व्यक्ति और जाति के लिए भिन्न-भिन्न होता है। पर आदर्श रूप में वह जवानी से बुढ़ापे के आरंभ तक होता है। जवान होने के पहले या शक्तियों का ह्रास

आरम्भ हो जाने के बाद सन्तान उत्पन्न की जाय तो वह मां-बाप से बल-बुद्धि में हीन होगी। यहां भी शरीर-शास्त्र के नियम हमें संभोग-नीति का एक नियम बताते हैं—वंश-वृद्धि और शरीर की आंतरिक पुष्टि की दृष्टि से पूर्ण यौवन-काल ही सन्तानोत्पादन के लिए सर्वोत्तम काल है।

उभयलिंग प्राणी से लिंग-भेद की उत्पत्ति का इतिहास हम छोड़ देते हैं, क्योंकि यह विकास-क्रम निर्विवाद तथ्य है। पर उभयलिंग प्राणी की उत्पत्ति के साथ एक नई बात पैदा हो जाती है जिसकी चर्चा आवश्यक है। उभयलिंग प्राणी के दोनों अर्द्धभाग—'नर' और 'मादा' — दो पिंड तो हो ही जाते हैं, हर एक अलग से बीज-कोष भी पैदा करने लगता है। नर-भाग बीज-कोष या शुक्र-कीट बनाकर आतरिक जनन का पुराना बुनियादी काम बदस्तूर किये जाता है, पर उन्हें पृथक् करने के बजाय इस उद्देश्य से बटोर रखता है कि शुक्र-कीट उनमें प्रविष्ट होकर गर्भाधान करे। दोनों अवस्थाओं में पुनर्जनन की क्रिया व्यक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यक है। गर्भ-स्थिति के बाद से भीतरी पुनर्जनन की क्रिया प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। मानव-प्राणी के पूरी बाढ़ को पहुंच जाने पर सन्तानोत्पादन हो सकता है, पर वह केवल जाति के हितार्थ होता है, व्यक्ति का हित उससे होना जरूरी नहीं है। निम्न कोटि के जीवों की तरह यहां भी आंतरिक जनन रुक जाने का अर्थ रोग या मृत्यु होता है। यहां भी व्यक्ति और जाति के हित एक दूसरे के विरोधी होते हैं। व्यक्ति के पास बीज-कोषों की फाजिल पूंजी न हो तो सन्तानोत्पादन में उसे खर्च करने से पुनर्जनन या आंतर उत्पादन की क्रिया को कुछ आवश्यक सामग्री की कमी पड़ जायगी। सच तो यह है कि सभ्य मानव-समाज में संभोग वंश-रक्षा की आवश्यकता से कहीं अधिक और भीतरी पुनर्जनन की क्रियाएं अड़चन डालते हुए किया जाता है, जिसका फल रोग, मृत्यु और दूसरे कष्ट होते हैं।

मानव शरीर की कल किस तरह चलती है इस पर यहां हम थोड़ी अधिक सूक्ष्म दृष्टि डालना चाहते हैं। हम पुरुष शरीर को लेते है, पर स्त्री शरीर में भी, ब्यौरे के थोड़े अन्तर के साथ, वही क्रियाएं होती हैं।

शुक्र-कोषों का केन्द्रीय भडार प्राण आदिम का और मूलभूत अधिष्ठान है। भ्रूण या गर्भ आरभ से ही, माता की देह में बननेवाले रसों से पुष्ट होकर, प्रतिक्षण बढता रहता है। शुक्र-कोषों का पोषण ही यहां भी जीवन का नियम दिखाई देता है। गर्भ के शुक्र-कोषों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है और उनमे कुछ भिन्नता पैदा होने लगती है, वे आवश्यकतानुसार नये रूप और नये कार्य ग्रहण करने लगते है। स्थूल अर्थ मे जन्म-ग्रहण मां के पेट से बाहर आने से इस क्रिया में थोडा ही अन्तर पड़ना है, पहले शुक्र-कोष के पोषण की सामग्री नाल के द्वारा मिलती थी, अब होठों और मुह के रास्ते मिलती है। कोषों की वृद्धि अब तेजी से होती है और सारे शरीर मे जहां कही निकम्मे तन्तुओं की जगह नये तन्तु बनाने की आवश्यकता होती है वहां पहुच जाते हैं। रक्तवाहिनी नाड़ियां इन कोषों को अपने आदि अधिष्ठान से लेकर देह के हर हिस्से मे पहुंचाती है। बड़े-बड़े समूहों मे वे खास-खास काम अपने जिम्मे लेते है और देह के भिन्न-भिन्न अंगों का निर्माण और मरम्मत करते है। जिस कोष-समुदाय की वे व्यष्टि है वह जीता रहे इसके लिए वे हजार बार मौत को गले लगाते है। ये सारे 'मुर्दे' शरीर की ऊपरी सतह पर आजाते है, और खासकर हड्डियों, दांतों, खाल और बालों में कड़ाई पैदा करके सारे शरीर का बल बढाते और उसकी रक्षा करते है। उनकी मृत्यु देह के उच्चतर जीवन और उस पर आश्रित सारी बातों का मूल्य है। वे आहार-ग्रहण, नये केषों का उत्पादन, विभाजन, भिन्न-भिन्न वर्गो में बटकर भिन्न-भिन्न कार्यो का सपादन और यह सब करके अन्त मे मर जाना बंद कर दे तो शरीर जी नहीं सकता।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बीज-कोषों या शुक्र-कोषों से

दो तरह के जीवन की प्राप्ति होती है—१. आन्तरिक या प्रजनन रूप और २. बाह्य या जननरूप। पुनर्जनन देह के जीवन का आधार है, और उसको भी उसी स्रोत से जीवन मिलता है जिससे जनन-क्रिया को। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि विशेष अवस्थाओं में दोनों क्रियाएं एक दूसरे की विरोधिनी, एक दूसरे में बाधक हो सकती हैं।

पुनर्जनन और अचेतन मन

पुनर्जनन यांत्रिक क्रिया—बेजान कल के पुरजों का हिलना—न है और न हो सकता है। वह तो जीव-सृष्टि में कोष के प्रथम विभाजन की तरह प्राण या जीव का अस्तित्व बताने वाला व्यापार है। अर्थात्, वह कर्ता में बुद्धि और संकल्प की शक्ति होने की सूचना देता है। प्राण-तत्त्व का विभाजन और बिलगाव—उसका विशिष्ट कार्यों की योग्यता प्राप्त करना शुद्ध यांत्रिक क्रिया है, यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की ये मूलभूत क्रियाएं हमारी वर्तमान चेतना से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि कोई बुद्धिकृत या सहज संकल्प उनका नियमन करता है, यह नहीं जान पड़ता। पर क्षण-भर के विचार से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि पूरी बाढ़ को पहुंचे हुए मनुष्य का संकल्प जिस तरह उसकी बाह्य चेष्टाओं और क्रियाओं का संचालन, बुद्धि के निर्देशानुसार करता है, वैसे ही यह भी मानना होगा कि आरंभ में होनेवाली शरीर के क्रमिक संघटन की क्रियाएं भी, अपनी परिस्थिति की सीमाओं के अंदर, एक प्रकार की बुद्धि की रह-नुमाई में काम करने वाली एक प्रकार की इच्छा-शक्ति या संकल्प के द्वारा परिचालित होती हैं। इस बुद्धि को मानस-शास्त्र के पंडित अब अचे-तन मन या अन्तश्चेतना कहने लगे हैं। यह हमारी व्यष्टि सत्ता, हमारी आत्मा का ही एक अंग है, जो हमारे साधारण चिन्तन से लगाव न रखते हुए अपने निज के कर्तव्यों के विषय में अतिशय जागरूक और सावधान रहता है। हमारी बाह्य चेतना सुषप्ति, बेहोशी आदि में सो जाती है, पर अन्तश्चेतना कभी एक क्षण के लिए आंख नहीं मूंदती।

इस प्रकार हमारी अन्तश्चेतना ही वह प्राण-शक्ति है जो शरीर के भीतरी निर्माण और विकास की पेचीदी क्रियाओं का नियमन करती है। उसका पहला काम है—गर्भयुक्त डिम्ब को अलग करना और इसके बाद प्राणी की मृत्यु होने तक मूल बीज-कोषों को जज्ब कर और उन्हें भिन्न-भिन्न अंगों को भेजकर, अपने पिंड या शरीर की रक्षा करते रहना। इस विषय में मेरा मत अनेक नामी मानस-शास्त्रियों के मत का विरोध करता हुआ मालूम हो सकता है, पर मेरा कहना है कि अचेतन मन को केवल व्यक्ति की चिन्ता होती है, जाति के जीने-मरने की परवाह उसे नहीं होती। अतः पहले वह पुनर्जनन की गाड़ी चलाने का उपाय करता है। केवल एक ही दृष्टि से कह सकते हैं कि अचेतन को भावी पीढ़ी की, जाति की, चिन्ता होती है—शरीर-संघटन की दृष्टि से व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ से वह जिस स्तर पर पहुंचा चुका है उसको वह बनाये रखना चाहता है। पर जो बात असंभव है वह उसके किये नहीं हो सकती। चेतन या ज्ञात संकल्प की सहायता से भी वह जीवन को अनन्त काल तक बनाये नहीं रह सकता। अतः काम-प्रवृत्ति या संभोग के आवेग के जरिये अपने-आपको फिर से पैदा करता है। कह सकते हैं कि इस व्यापार में अचेतन और चेतन मन—अन्तश्चेतना और बहिश्चेतना—मिलकर काम करती हैं। संभोग में मिलने वाला सुख साधारणतः इस बात की सूचना माना जा सकता है कि उससे व्यक्ति को सुख मिलने के सिवा किसी और के प्रयोजन की भी पूर्ति होती है। व्यक्ति को इस सुख की कीमत भी, जितनी वह जानता है, उससे बहुत ज्यादा चुकानी पड़ती है।

जनन और मृत्यु

इस लेख को विज्ञान के विशेषज्ञों के अवतरणों से भरकर बोझिल बना देना इष्ट नहीं है, पर विषय इतने महत्त्व का है और जन-समाज में इस विषय में इतना अज्ञान फैल रहा है कि कुछ प्रामाणिक वचन हमें देने ही होंगे। रेलैकेस्टर लिखते हैं:—

"आदि जीव (प्रोटोजोआॅन) का शरीर केवल एक कोष का होता है, और अपना वंश वह अपने शरीर के टुकड़े करके बढ़ाता है। इससे इस प्रकार के जीवों में मृत्यु कोई स्वाभाविक और साधारण घटना नहीं है।"

वीसमान का कहना है—"स्वाभाविक मृत्यु केवल बहु कोषी जीवों में ही होती है, एक कोष वाले जीव उससे बच जाते हैं। उनके विकास का कभी वैसा अन्त नहीं होता जिसकी तुलना मृत्यु से की जा सके, और यह भी जरूरी नहीं कि नये प्राणी के पैदा होने के लिए पुराने को मरना पड़े। विभाजन में दोनों अंश समान होते हैं, न कोई बूढ़ा होता है न कोई जवान। इस प्रकार व्यष्टि जीवों की अनन्त श्रेणी चलती रहती है, जिसमे हर एक की वय उतनी ही होती है जितनी जाति की। हर एक मे अनन्त काल तक जीते रहने की सामर्थ्य होती है, उसके टुकड़े सदा होते रहते है, पर मरता कभी नहीं।"

पैट्रिक गेडेस 'द इवोल्यूशन आव सेक्स' (लिंग-भेद का विकास) पुस्तक में लिखते हैं—"इस तरह हम कह सकते है कि मृत्यु देह-धारण का मूल्य है। यह कीमत हमें कभी-न-कभी चुकानी ही पड़ती है। देह से हमारा मतलब कोषों के उस जटिल संघात से है जिसमे थोड़ा-बहुत अंग-भेद और कार्य-भेद विद्यमान हो।"

श्री वीसमान के अर्थभरे शब्दों मे "देह एक तरह से जीवन के सच्चे अधिष्ठान-उत्पादन कार्य करने वाले कोष-समूह का अतिरिक्त विस्तार उनसे जोड़ी हुई चीज-सी जान पड़ती है।"

श्री रेलैकेस्टर भी यही बात कहते हैं—"बहुकोषी प्राणियों के शरीर में कुछ कोष देह के और घटकों से अलग कर दिये जाते है।... ऊंची श्रेणी के जीवों की देह, जो मरणशील होती है, इस दृष्टि से क्षणिक और गौण वस्तु मानी जा सकती है, जिसकी रचना का प्रयोजन अधिक महत्त्व वाली और अमर वस्तु—विभाजन से उत्पन्न कोष-संघात—का कुछ दिनों तक धारण-पोषण करते रहना-भर है।"

"पर इस विषय में सबसे अधिक मार्के की और संभवतः सर्वाधिक विस्मयजनक बात वह गहरा लगाव है जो ऊंचे प्रकार की बनावट वाली देहों या पिंडों में जनन-क्रिया और मृत्यु के बीच पाया जाता है। अनेक विज्ञानविद् इस विषय पर स्पष्ट और निश्चयात्मक शब्दों में अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। **जनन का दण्ड मरण है।** बहुतेरी जीव-योनियों मे यह बात बिलकुल स्पष्ट है। वंश-रक्षा का उपाय करने में उनमें नर या मादा मे से एक को अक्सर जान से हाथ धोना पड़ता है। सन्तानोत्पादन के बाद जीते रहना प्राण की विजय है, जो सदा नहीं होती। कुछ जीव-जातियों में तो कभी नही होती। गेटे ने मृत्यु पर लिखे हुए अपने निबंध में भली-भांति दिखाया है कि जनन और मरण मे कितना निकट का और अनिवार्य सम्बंध है। ये दोनों क्रियाएं क्षय क्रिया की वे मंजिलें कही जा सकती हैं जब स्थिति कोई पक्की करवट लेती है।"

श्री पैट्रिक गेडेस पुनः कहते हैं—"सन्तानोत्पादन और मृत्यु का सम्बन्ध निस्सदेह स्पष्ट है। पर आम बोल-चाल मे इस लगाव को गलत रूप दे दिया जाता है। हम लोगों को यह कहते सुनते हैं कि प्राणी की मृत्यु अटल है इसलिए उसे बच्चे पैदा करने ही होंगे, नही तो जाति का नाश हो जायगा। पर पीछे के उपयोग की यह दलील आम तौर से हमारे दिमाग की बाद में होने वाली उपज होती है। इतिहास हमें बताता है कि प्राणी इसलिए बच्चे नही पैदा करता कि उसे एक दिन मरना है, बल्कि वह बच्चे पैदा करता है इसीलिए मरता है।"

गेटे ने इस तत्त्व को यों सूत्र रूप में बताया है—"मरण जनन को आवश्यक नहीं बनाता, बल्कि वह खुद जनन का अनिवार्य परिणाम है।"

बहुत-सी मिसाले देने के बाद गेडेस ने इन ध्यान देने योग्य शब्दों में इस विषय का उपसंहार किया है—"ऊंची श्रेणी के जीवों में वंश-वृद्धि के लिए होने वाला बलिदान बहुत कम हो गया है, फिर भी काम-वासना की तृप्ति के फल रूप में मौत होने का खतरा मनुष्य के लिए

रहता ही है। संयत मात्रा में संभोग से भी तन-मन में सुस्ती, थकावट आ जाती है और शारीरिक शक्ति के इस ह्रास-काल में हर तरह के रोग होने की संभावना बढ़ जाती है, यह तो सभी को मालूम है।"

इस विवेचना का निचोड़ यह हो सकता है कि संभोग पुरुष के लिए शरीर के क्षय की क्रिया या मौत की ओर बढ़ना है और प्रसव क्रिया में स्त्री के लिए भी उसका वही अर्थ होता है। और यह बात बिलकुल पक्की है।

असंयत संभोग का शरीर के स्वास्थ्य पर जो अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है उस पर एक पूरा अध्याय लिखा जा सकता है। अखंड ब्रह्मचर्य या पूर्ण संयम का पालन करनेवाले को भी बल-वीर्य, दीर्घायु, और आरोग्य की प्राप्ति होना साधारण नियम है। इसका एक सबूत, यद्यपि वह जरा भद्दा है, यह हो सकता है कि दुर्बल जनों के शरीर में इंजेक्शन के जरिये बाहर से थोड़ा वीर्य पहुंचा देने से उनकी बहुत-सी व्याधियां दूर हो जाती हैं।"

प्रस्तुत निबंध के इस भाग में जो मत या निष्कर्ष पाठकों के सामने रखे गये है उनका मन उन्हें मानने से इनकार कर सकता है। कितने ही लोग बहुतेरे बूढ़े और देखने में तन्दुरुस्त लगने वाले स्त्री-पुरुषों के नाम लेंगे जिनके बहुत-से बाल-बच्चे हैं, आंकड़े देकर दिखायेंगे कि विवाहित स्त्री-पुरुष अविवाहितों से अधिक जीते है। पर इनमें से कोई भी दलील इस तथ्य के सामने टिक नहीं सकती कि विज्ञान की दृष्टि से मृत्यु जीवन के अन्त मे घटित होने वाली घटना नहीं है, बल्कि एक क्रिया है जो जीवन के साथ ही आरंभ होती और प्रतिक्षण उसके साथ-साथ चलती रहती है। शरीर की छीज की पूर्ति अथवा पोषण और उसका क्षय जीवन और मरण की शक्तियां है जो एक दूसरे के कदम-ब-कदम चला करती हैं। बचपन और चढ़ती जवानी के दिनों में जीवन की क्रिया दौड़ में आगे रहती है। प्रौढ़ावस्था में दोनों कदम-ब-कदम चलती हैं, पर जब उम्र ढलने लगती है तो मृत्यु की क्रिया आगे निकल जाती है

और अन्त में निधन के क्षण में जीवन की शक्ति को पक्के तौर से पछाड़ देती है। इस जय-लाभ में सहायक होने वाली हर बात, हर बात जो उस घड़ी को एक दिन, एक बरस या एक दशक आगे खींच लाती है, मृत्यु की क्रिया है। और संभोग निस्सन्देह ऐसा ही कार्य है, खासकर जब वह अति मात्रा में किया जाय।

अपने उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता पर सन्देह करने वालों को मैं एक बहुत ही रोचक और ज्ञानगर्भ पुस्तक पढ़ने की सलाह दूंगा। वह चार्ल्स एस. माइनट लिखित 'द प्राब्लम आव एज ग्रोथ एंड डेथ' (वय, विकास और मृत्यु की समस्या)।[१] विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में क्षय और मृत्यु का अर्थ और स्वरूप शरीर-शास्त्र की दृष्टि से बताया है। उसकी इस बात को मैं पक्के तौर से मानता हू कि स्वाभाविक मृत्यु जीवन की कोई अलग, असंबद्ध घटना नहीं है बल्कि एक निरन्तर चलती रहने-वाली क्रिया है। पर कामुकता के विषय पर जो पुस्तक मुझे सबसे अधिक महत्त्व की जान पड़ी वह है डाक्टर केनेथ सिलवां गुथरी की रिजेनरेशन-द गेट आव हेवेन(पुनर्जनन—स्वर्ग-द्वार)[२] उसका नाम तो बताता है कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से लिखी गई है, पर उसमे शरीरशास्त्र और नीति-शास्त्र की दृष्टि से भी विषय का पूर्ण विवेचन किया गया है और अपने मत की पुष्टि में विज्ञान के प्रमुख पण्डितों तथा ईसाई धर्माचार्यों के मत पेश किये गए हैं।

मन की इन्द्रिय

शरीर के उच्चतर कार्यों, खासकर मन की भौतिक इंद्रिय-नाड़ी-संस्थान और मस्तिष्क का विचार करने से जनन और पुनर्जनन क्रिया के स्थिर विरोध का कुछ अंदाजा हमें लग सकता है। हमारा सम्पूर्ण

---

१ The Problem of Age, Growth and Death, by Charls S. Minot (1908, Johan Murray)

२ Regeneration, the Gate of Heaven, by Dr. Kenneth Sylvan Guthrie (Boston, the Barta, Press)

नाड़ी-संस्थान भी ऐसे कोषों से ही बना है जो कभी बीज-कोष रह चुके हैं और जो प्राण के आदि अधिष्ठान से खिचकर आये हैं। विभिन्न संस्थानों के नाड़ी-जाल केन्द्रों को उनकी धारा सदा सींचती रहती है, दिमाग को तो प्रचुर मात्रा में उसकी प्राप्ति होती है। इन कोषों का ऊपर की ओर जाकर शरीर के पोषण में लगना रोककर वे सन्तानोत्पादन या केवल भोग-सुख के लिए खर्च किये जाय तो वह खजाना खाली हो जाता है जिससे उक्त अंग रोज होने वाली छीज की पूर्ति किया करते हैं ? यही शारीरिक सचाइयां हमारी वैयक्तिक संभोग-नीति का आधार है, जो अखंड ब्रह्मचर्य नही तो संयम की सलाह जरूर देती है, संयम की प्रेरणा का मूल स्रोत कहां है यह तो बताती ही है।

कुछ दर्शन मानते है कि ब्रह्मचर्य धारण से मन और आत्मा की शक्तियां बढती है। भारत का योग-दर्शन उनमे प्रधान है। पाठक पातञ्जल योग-दर्शन के किसी भी प्रामाणिक उलथे को देखकर मेरे कथन की सचाई की जांच कर सकते है। ('हारवर्ड ओरियंटल सिरीज' मे प्रकाशित जेम्स एच० वुड कृत उलथा मेरी समझ से अंग्रेजी में उसका सर्वश्रेष्ठ अनुवाद है।)

भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन से परिचित जनों को मालूम होगा कि हिन्दू लोग पहले तपस्या किया करते थे और बहुतेरे अब भी करते है। उसके दो उद्देश्य होते है—शरीर की शक्तियों को बनाये रखना और बढ़ाना और मन की अतीन्द्रिय शक्तियां या सिद्धियां प्राप्त करना। पहले को हठयोग कहते है। शारीरिक पूर्णता-आदर्श स्वास्थ्य को ही उसने अपना लक्ष्य मान लिया है। उसके अन्दर बहुत से करामाती काम किये जाते हैं। दूसरे का नाम राजयोग है, जिसका उद्देश्य मन, बुद्धि और आत्मा की शक्तियों का विकास है। पर शारीरिक सदाचार का अंग दोनों में समान है। यह पतंजलि के योगसूत्र और प्राचीन भारत के इस महान मानस-शास्त्री के सिद्धान्तों के सहारे रचित अन्य कितने ही ग्रन्थों मे वर्णित है।

पंच क्लेशों में 'राग' का स्थान तीसरा है। पतञ्जलि के कथनानुसार उसका अर्थ है सुख या सुख प्राप्ति के साधनों की कामना या तृष्णा। सुख में दुःख मिला हुआ है। (सुखानुशायी रागः- २-७) इसलिए वह योगी के लिए त्याज्य है।

योग के आठ अग है। उनमें पहला और दूसरा यम और नियम है, जिनका पालन योग के अभ्यासी को सबसे पहले करना होता है। यह देखकर अचरज होता है कि योग के रहस्यों के अनेक उद्घाटनकर्ता या तो इस बात से अनभिज्ञ है या जानते हुए भी इस विषय में चुप्पी साध लेते है कि चौथा यम आठ प्रकार के मैथुन का त्याग है, और ब्रह्मचर्य जननेन्द्रिय का निग्रह है।

पर पतञ्जलि के कथनानुसार ब्रह्मचर्य के लाभ महान् है। **ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।** (३८-२)—ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होनेवाले को वीर्यलाभ होता है। वीर्य के मानी है बल, पौरुष। उसके लाभ से अणिमादि अष्ट सिद्धयों की प्राप्ति होती है।.........

श्री मणिलाल ना० द्विवेदी अपनी योग सूत्र की टीका मे लिखते हैं। "शरीर-शास्त्र का यह सर्वविदित नियम है कि वीर्य का बुद्धि के साथ बहुत गहरा लगाव है, और हम कह सकते है कि आध्यात्म-भाव के साथ भी है। जीवन के इस अमूल्य तत्त्व का अपव्यय रोकने से मनुष्य को मन-इन्द्रियों की अभीष्ट अतीन्द्रिय शक्ति प्राप्त होती है। इस यम का पालन किये बिना किसी को योग-सिद्धि होने की बात हमे नहीं मालूम!"

योग-सूत्रों के कितने ही भाष्यों में योग का प्रयोजन और प्रक्रिया रहस्यवाद की शब्दावली में वर्णित है। शक्ति के विषय में कहा जाता है कि वह सर्प के समान—सबसे नीचे के चक्र से—सबसे ऊपर के चक्र अंड-कोष से ब्रह्माण्ड को जाती है।

वैयक्तिक काम-नीति

सदाचार के नियम सामान्यतः जीवन के अनुभवों से बनते है, चाहे

वे व्यक्तियों के जीवन के हों या समाजों के अथवा जाति के। इतिहास के कथनानुसार उनकी रचना प्राय: कोई महापुरुष करता है। कभी-कभी उसे ईश्वर के अवतार या दूत का पद प्राप्त होता है। मूसा, बुद्ध, कनफ्यूशियस, सुकरात, अरस्तू, ईसा और उनके बाद हर देश में हुए महान् धर्मोपदेष्टा और तत्त्व-ज्ञानी सबने अपने-अपने देश और काल में मनुष्य के आचार को परखने की कोई-न-कोई कसौटी पेश की। अत: सामान्य, सर्वोपयोगी नीति-शास्त्र दर्शन-शास्त्र, मानस-शास्त्र, शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आश्रित होगा। ये सब मिलकर अनेक तथ्य या माने हुए तथ्य प्रस्तुत करते हैं जो स्वत: प्रमाण होते हैं। अत: किसी भी युग या सभ्यता मे वैयक्तिक काम-नीति या संभोग-नीति के नियम उन्हीं तथ्यों के आधार बनेंगे जो लोगों के अपने अनुभव में उन पर सबसे ज्यादा असर डालते हैं। सामाजिक काम-नीति की तरह वैयक्तिक काम-नीति भी युग-युग में भिन्न होती है। पर उसकी बातें स्थायी और अल्पाधिक सार्वकालिक होती है।

इस युग के लिए वैयक्तिक काम-नीति निर्द्धारित करने मे हमें सभी ज्ञात तथ्यों और सम्भावनाओं का विचार करना होगा, खासकर जब विश्वसनीय समीक्षकों के अनुभव उसकी पुष्टि कर देते हों। यह कहना अपनी बड़ाई करना नही है कि प्रस्तुत लेख के पहले और पांचवें प्रकरणों में जो तथ्य दिय गए हैं वे निर्विकार चित्त के समझदार पाठक को तत्क्षण कुछ युक्ति-संगत अनिवार्य परिणामों पर पहुंचाते हैं। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक हित की दृष्टि से वे तथ्य यही बताते हैं कि ब्रह्मचर्य जीवन का अकाट्य नियम है। पर इस नियम को चुनौती देने के लिए तुरत ही दूसरा नियम हमारे सामने आकर ताल ठोकता है। एक नियम दूसरे का खंडन करता है, पहला नियम प्रकृति का है, काम की वासना या वेग उसकी देन है। पिछला नियम है अपरोक्ष ज्ञान (इंट्यूशन) का, विज्ञान का, अनुभव का, विश्वास का, आदर्श का। पुराने नियम के अनुसरण का फल है जल्दी बूढ़ा होना और

जल्दी परलोक सिधारना। नये नियम के रास्ते में ऐसी विकट बाधाएं खड़ी हैं कि उन पर चलने की हिम्मत बिरले ही करते हैं। वस्तुस्थिति पर विश्वास करना लोगों के लिए कठिन होता है, वे तुरंत किन्तु-परन्तु करने लगते हैं। पर यहां यह बात उल्लेखनीय है कि योगियों, संन्यासियों और भिक्षुओं के लिए जो आचार के कड़े-से-कड़े नियम रखे गए हैं वे पौराणिक आख्यानों या अंध-विश्वासों पर आश्रित नहीं हैं, बल्कि इस निबंध मे वर्णित शारीरिक सचाइयों द्वारा आदिष्ट हैं।

काम-वासना की तृप्ति में सदाचार-पालन का पक्ष, जहां तक मेरी जानकारी है, किसी आधुनिक लेखक ने काउंट टॉल्स्टॉय से ज्यादा जोरदार या स्पष्ट शब्दों में उपस्थित नहीं किया है। रूस के इस आदर्शवादी तत्त्वज्ञानी के विचारों[1] की एक बानगी मैं यहा देता हूं—

"१०२. वंश-रक्षा की प्रवृत्ति—काम-वासना—मनुष्य में स्वभाव जन्य है। पशु-दशा में वह इस सहज वासना की तृप्ति कर अपने जीवन के प्रकृति निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति करता है। इसी में उसका हित है।

१०३. पर चेतना के जगने पर उसका मन यह कहने लगता है कि इस वासना की तृप्ति से व्यष्टिरूप मे उसकी कुछ अधिक भलाई होगी और वह उसकी तृप्ति जाति की रक्षा के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपने निज के भले के लिए करने लगता है। यही कामगत पाप है।

१०७. पहली हालत में जब मनुष्य पवित्रता अर्थात् ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना और अपनी सारी शक्ति भगवान् की आराधना में लगाना चाहता हो, संभोग-मात्र—उसका उद्देश्य बच्चे पैदा करना और उन्हें पालना-पोसना हो तो भी—कामगत पाप होगा। जिस आदमी ने ब्रह्मचर्य का रास्ता अपने लिए चुना हो शुद्धतम वैवाहिक जीवन भी उसके लिए एक स्वभाव-कृत पाप होगा।

[1]टाल्स्टॉय की परिभाषा में पाप धर्म-शास्त्र के किसी विधि-निषेध का उल्लंघन नहीं है। जो कुछ प्रेम अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति मैत्री की अभिव्यक्ति में बाधक है वही पाप है।

११३. जिसने सेवा और पवित्रता या ब्रह्मचर्य का रास्ता अपने लिए चुना हो उसके लिए विवाह इस कारण पाप या गलती है कि वह इस बधन मे न बंधता तो सभव है सबसे ऊचा धंवा अपने लिए चुनता और अपनी सारी शक्तियां भगवान् की सेवा में—फलतः प्रेम के प्रचार और व्यक्ति के परम श्रेय की प्राप्ति में—लगाता। इसके बदले वह जीवन के नीचे के स्तर पर उतर आता है और अपने परम श्रेयस से वंचित रहता है।

११४. जो आदमी वंश-रक्षा के रास्ते पर चलना चाहता हो उसके लिए विवाह न करना पाप होगा। इसलिए कि बाल-बच्चों, अन्ततः कुटुम्ब के नेह-नाते से वचित रहकर वह अपने-आपको दाम्पत्य-जीवन के सबसे बड़े प्रेय से वंचित रखता है।

११५. इसके सिवा जो लोग संभोग-सुख को बढ़ाने का यत्न करते है उनका स्वाभाविक सुख, ज्यों-ज्यों उन्हें कामुकता की लत लगती है, घटता जाता है। सभी शारीरिक वासनाओं की तृप्ति में ऐसा होता है।"

इन पंक्तियो से प्रकट होता है कि टाल्स्टॉय का सिद्धान्त नैतिक सापेक्ष्यवाद है। मनुष्य को परमेश्वर, परब्रह्म किसी अवतारी धर्माचार्य ने नियत नहीं कर दिया है, हर एक को खुद उसे चुनना पड़ता है। हां, यह जरूरी है कि वह जो नियम, जो रास्ता, अपने लिए चुने उसका अनुसरण करे।

यह आचार-नीति ऊपर से नीचे की ओर आनेवाला एक निषेध परम्परा का विधान करती है। जिस आदमी को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य में पक्की निष्ठा है और जो ऊचे शारीरिक-मानस लक्ष्यों के लिए बुद्धिपूर्वक सयम का पालन करता है उसके लिए सब प्रकार का संभोग वर्जित है। जो आदमी विवाह-बंधन में बंध चुका है, उसके लिए पर-स्त्री या पर-पुरुष का संग निषिद्ध है। अविवाहित स्त्री पुरुष के अनियमित या स्वच्छंद संभोग में भी वेश्या-गमन या वेश्या-वृत्ति जैसे पतनकारी संबंध

का निषेध होगा, और प्राकृतिक रीति से कर्म करनेवाले को अप्राकृतिक बुराइयों से बचना चाहिए। अपनी काम-वासना की तृप्ति करनेवाले के लिए भी अति संभोग हर हाल में दोष माना जायगा और कच्ची उम्र के युवक-युवतियों को प्रौढ़ वय को पहुंचने तक संभोग-सुख की चाह दबा रखनी होगी। यही काम-नीति है।

ऐसा आदमी तो शायद ही मिले जो इस सामान्य काम-नीति को समझ न सकता हो। और ऐसे भी बिरले ही होंगे जो दिमाग पर जोर डालकर सोचे तो उसकी सचाई को अस्वीकार करें। हां, कुतर्क से उस का विरोध करने की प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है, लोग यह मानते हैं कि चूंकि ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है और बिरले ही उसे निभा सकते हैं इसलिए उसका उपदेश देना बेकार है। तर्क की दृष्टि से तो विवाहित स्त्री-पुरुष के पर-पुरुष या पर-स्त्री शरीर संग न करने, पति-पत्नी में भी विषय-भोग की अति न होने, या प्राकृतिक रीति से ही काम-वासना की तृप्ति करने के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वे एक आदर्श को अस्वीकार करते है तो आदर्श-मात्र को कर सकते हैं और हमें गन्दी आदतों और कामुकता के गढे मे गिरने की सलाह दे सकते है। बुद्धि-विवेक हमें एक ही राह बताता है--आदर्शरूपी ध्रुवतारे का अनुसरण। यह ध्रुवतारा हमें रास्ते के गड्ढों से बचाता और इस योग्य बनाता है कि हम एक नियम का सहारा ले उसके बल से विरोधी नियम पर विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार इस नीति-नियम का सोच-समझकर और इच्छापूर्वक अनुसरण करके मनुष्य जवानी की अप्राकृतिक बुराइयों से स्वाभाविक संयोग की स्थिति को पहुच सकता है, भले ही वह अविवाहित, स्वच्छन्द हो। इस स्थिति से और ऊंचा उठकर वह एकनिष्ठ दाम्पत्य-जीवन के बंधन में बंधेगा और अपने तथा अपने साथी के हित के लिए अपनी भोग-वासना पर उतना अंकुश रखेगा जितना रख सकता है। यही नीति उसे ब्रह्मचर्य से होनेवाले उच्चतर लाभों का अधिकारी बना सकती है, अति भोग की अनेक बुराइयों के गढ़े में गिरने से तो निश्चय

ही बचा सकती है।

सामाजिक काम-नीति

समाज व्यक्तियों के कार्य-कलाप का विस्तार और उनका एक लड़ी में गूंथा जाना है। अतः सामाजिक काम-नीति भी वैयक्तिक काम-नीति से ही उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि समाज को वैयक्तिक सदाचार के नियमों को कुछ बढ़ाना और कुछ मर्यादित करना पड़ता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण विवाह की व्यवस्था है। विज्ञान के पंडितों ने विवाह के इतिहास पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे हैं और इस विषय के तथ्य तो इतने इकट्ठे कर दिये हैं कि उनका ढेर लग गया है। इसलिए आज जो सुधार सुझाये जा रहे हैं उनकी चर्चा करने के लिए उक्त विद्वानों की रायों का निचोड़ दे देना भर काफी होगा।

प्राचीन काल मे मानव-वंश मे माता का पद पिता से बड़ा था। सन्तानोत्पादन कार्य मे वही प्रकृति का प्रधान कारण परदाज थी और हैं। उसी को लेकर, उसी को केन्द्र बनाकर कुटुम्ब की उत्पत्ति हुई। फलतः एक जमाने में माता का राज विश्व की व्यापक व्यवस्था थी। बहुपतित्व अर्थात् एक स्त्री का अनेक पुरुषों से सम्बंध उस समय जायज माना जाता था। एशिया की कुछ जंगली जातियों में अब भी इस प्रथा के अवशेष पाये जाते हैं। इस प्रथा से और अंशतः जातियों-कबीलों के संघटन से भी पति के पद की पैदाइश हुई। एक स्त्री से सम्बद्ध अनेक पुरुषों में से जो सबसे अधिक बलवान और संरक्षण मे समर्थ होता था उसका पद-अधिकार औरों से कुछ बड़ा होने लगा। पति का अंग्रेजी पर्याय--'हस्बेंड' विवाह प्रथा का इतिहास अपने भीतर लिये हुए है। वह मूलतः Husbound है जिसके मानी हैं घर में रहनेवाला। उसपर घर मे रहना फर्ज होता था। औरों पर नही होता था। धीरे-धीरे वह घर की रखवाली करनेवाले घर का मालिक बन गया और पीछे कोई-कोई 'गृहपति' जाति का सरदार या राजा भी बन गया। माता के राज या स्त्रीराज्य में जैसे बहुपतित्व की प्रथा उपजी थी पिता या पुरुष के

राज में वैसे ही बहुपत्नीत्व का रिवाज पैदा हुआ और फैला।

अतः सामाजिक दृष्टि से नहीं तो मानस-शास्त्र की दृष्टि से पुरुष स्वभावतः अनेक पत्नियों की और स्त्री अनेक पतियों की कामना रखने-वाली है। पुरुष अपनी कामना की किरणें सब ओर छिटकाता और जो स्त्री तत्काल उसे सबसे अधिक आकृष्ट करती उसी पर उसे केन्द्रित करता है। स्त्री भी यही करती है। पर मनुष्य के प्रकृति-प्रेरित, उसकी मनोरचना से उद्भूत अव्यवस्थित आवेगों पर थोड़ा-बहुत अंकुश न रखा गया तो मनुष्य-समाज टिक नहीं सकता, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक। मनुष्य से नीचे के सभी प्राणियों में ऐसे आवेगों की अति-शयता होती है। समाज को इन आवेगों के लिए विवाह के सिवा और कोई उपयुक्त अंकुश न मिला और अन्त मे एकनिष्ठ विवाह—एक स्त्री-पुरुष के साथ एक स्त्री-पुरुष के ब्याह या पति-पत्नी सम्बन्ध—को ही अपनाना पड़ा। इसका विकल्प एक ही हो सकता है—स्वच्छन्दाचार और अन्ततः वर्त्तमान रूप में समाज का पूर्ण विनाश। दोनों जीवन-प्रणालियों का संघर्ष हमारी आंखों के सामने चल रहा है और हम उसे देख सकते हैं। वेश्या-वृत्ति, अनियमित और अवैध सम्बन्ध, व्यभिचार और तलाक रोज-ब-रोज हमारे सामने इस बात का सबूत पेश कर रहे हैं कि एकनिष्ठ विवाह आदिम प्रकार के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के ऊपर अपनी सत्ता अभी स्थापित नहीं कर सका है। कभी कर सकेगा ?

इस बीच हमें एक और उपाय की योग्यता पर विचार कर लेना होगा। वह है तो बहुत पुरानी चीज, पर पहले वह लुक-छिपकर अपना काम करती थी; इधर थोड़े दिनों से बिना घूंघट, बुरके के सामने आने लगा है। उसका नाम है 'जनन-निरोध' (बर्थ कंट्रोल); और अर्थ है ऐसी दवाओं और बाह्य साधनों का व्यवहार जो गर्भ-स्थिति न होने दें। गर्भ-धारण में स्त्री पर तो बोझ पड़ता ही है, पुरुष को भी, खासकर भले स्वभाव के पुरुष को, उसके कारण काफ़ी अरसे तक संयम रखना पड़ता है। जनन-निरोध या गर्भ-निरोध संयम को अनावश्यक बना देता

और इसका सुभीता कर देता है कि जब तक वासना या शरीर ही शिथिल न हो जाय तब तक हम मनमाना संभोग-सुख भोगते रहें। इसका असर विवाह सम्बन्ध के बाहर भी पड़ता है। यह अनियमित, अवैध और अफलजनक संभोग का दरवाजा खोल देता है, जो आधुनिक उद्योग-धंधों, समाज-शास्त्र और राजनीति सबकी दृष्टि से खतरों से भरी हुई बात है। यहां इन बातों की विस्तार से चर्चा नहीं की जा सकती। इतना ही कहना काफी है कि गर्भ-निरोध के साधनों से विवाहित-अविवाहित दोनों तरह के स्त्री-पुरुषों के लिए अति संभोग का सुभीता हो जाता है। और ऊपर मैंने शरीर-शास्त्र की जो दलीलें दी हैं वे सही हो तो इससे व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होना अनिवार्य है।

उपसंहार

किसान खेत में जो बीज बिखेरता है वे सभी उगते नहीं। वैसे ही यह निबंध भी कुछ ऐसे लोगों के हाथ में पड़ेगा जो इसे घृणा की दृष्टि से देखेंगे। कुछ तो अयोग्यता या निरे आलस्य से इसे समझेंगे ही नहीं, कुछ के लिए इसमें प्रकट किये हुए विचार बिलकुल नये होंगे और उनके मानस में वे विरोध या क्रोध की भावना भी जगा सकते हैं। पर थोड़े-से लोग ऐसे भी अवश्य निकलेंगे जिन्हें वह सच्चा और काम का जान पड़े। मगर उनके मन में भी शंका उठेगी। उनमें जो सबसे भोले होंगे वे कहेंगे—"आपकी दलीलों के अनुसार तो संभोग कभी होना ही नहीं चाहिए। तब तो दुनिया में जीवधारी रह ही न जायंगे। इसलिए आपकी राय गलत होनी ही चाहिए।" मेरा जवाब यह है कि मेरे पास कोई ऐसा खतरनाक अताई नुस्खा नहीं है। जनन-निरोध जन्म रोकने का सबसे प्रभावकर उपाय है और संयम या ब्रह्मचर्य की तुलना में बहुत जल्दी दुनिया को आदमियों से खाली कर देगा। मैं जो बात चाहता हूं वह तो बहुत सीधी है। अज्ञान और असंयत भोग के मुकाबिले में दर्शन और विज्ञान की कुछ सचाइयों को खड़ा करके मैं अपने युग के स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की शुद्धि में सहायता करना चाहता हूं।

महात्मा गांधी की

अन्य पुस्तकें

१. आत्मकथा
२. ब्रह्मचर्य
३. धर्मपालन
४. गीता बोध
५. मंगल प्रभात
६. ग्राम सेवा
७. सर्वोदय
८. सत्यवीर सुकरात
९. हिन्द स्वराज्य